ISSN 0971-8478

नवंबर 2018

₹ 22

आजकल

1945 से निरंतर प्रकाशित

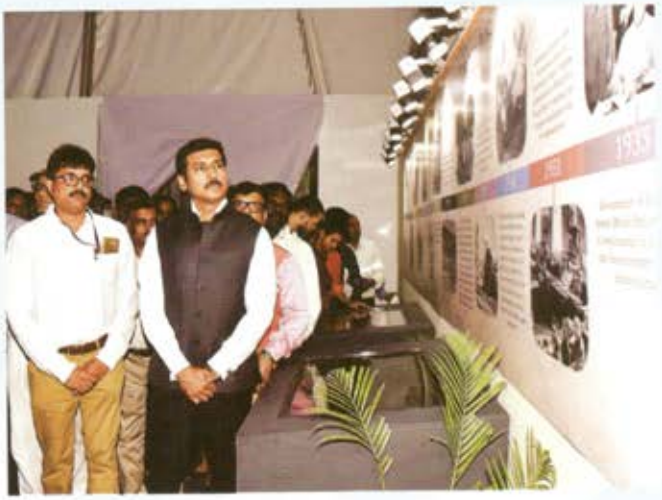
साहित्य और संस्कृति का मासिक



सिनेमा और समाज : एक

महात्मा गांधी पर प्रकाशन विभाग की पुस्तकों का लोकार्पण





केंद्रीय सूचना और प्रसारण तथा खेल और युवा मामलों के राज्य मंत्री (स्वतंत्र प्रभार) कर्नल राज्यवर्धन सिंह राठौड़ (सेवानिवृत्त) ने महात्मा गांधी की 150वीं जयंती समारोह के अवसर पर मल्टीमीडिया प्रदर्शनी का उद्घाटन किया। इस अवसर पर सूचना और प्रसारण सचिव तथा मंत्रालय के अन्य वरिष्ठ अधिकारी भी उपस्थित थे। इस अवसर पर मंत्री महोदय ने महात्मा गांधी के जीवन पर आधारित विभिन्न लेखकों की प्रकाशन विभाग द्वारा प्रकाशित 11 पुस्तकों का लोकार्पण भी किया। 'सलेक्टेड लेक्चर्स ऑन महात्मा गांधी: पटेल मेमोरियल लेक्चर सीरीज' 'वुमन इन सत्याग्रह', 'गांधी: ए पेट्रिअट इन साउथ अफ्रीका', 'गांधी इन चंपारण' (कन्नड़ तथा तमिल), 'चंपारण पुराण', 'गांधी कथा', 'गांधी शतदल', 'गांधीजी के संस्मरण', 'महात्मा गांधी का संदेश', 'शांति का संदेश' पुस्तकें इनमें शामिल हैं।

इस अवसर पर कर्नल राठौड़ ने कहा कि प्रदर्शनी में इस्तेमाल की गई नई तकनीकी से महात्मा गांधी का जीवन लोगों के निकट आया है। मल्टीमीडिया प्रदर्शनी लोगों की समझ बढ़ाने वाली और उन्हें आकर्षित करने वाली है। उन्होंने आशा व्यक्त की कि मल्टीमीडिया प्रदर्शनी देश के विभिन्न शहरों में लगाई जाएंगी, ताकि यह विचार अधिक से अधिक लोगों तक पहुंचे। उन्होंने कहा कि महात्मा गांधी का जीवन सभी के लिए उदाहरण है। महात्मा गांधी वैश्विक नागरिक हैं और इस पर प्रत्येक नागरिक को गर्व है। उन्होंने स्वच्छता सेवा के लिए अपना जीवन समर्पित किया। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने स्वच्छता को चुनौती के रूप में लिया है और जन आंदोलन के माध्यम से परिवर्तन देखा जा सकता है।

सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय में सचिव अमित खरे ने कहा कि मल्टीमीडिया प्रदर्शनी में लोगों ने उत्साह के साथ भाग लिया। उन्होंने कहा कि देश के अंतिम व्यक्ति तक महात्मा गांधी के विचारों को पहुंचाने के लिए नई तकनीकी का उपयोग किया है।

इस अवसर पर कर्नल राठौड़ ने आउटरीच कम्युनिकेशन ब्यूरो, दूरदर्शन तथा फिल्म प्रभाग द्वारा महात्मा गांधी पर बनाई गई तीन लघु फिल्मों को भी जारी किया। उन्होंने 'किसानों की आजीविका विकास' विषय पर 'जन कनेक्ट' पत्रिका का विमोचन किया। यह महात्मा गांधी का सपना था।

महात्मा गांधी की 150वीं जयंती पर आउटरीच कम्युनिकेशन ब्यूरो द्वारा मल्टीमीडिया प्रदर्शनी आयोजित की गई। प्रदर्शनी में महात्मा गांधी के जीवन पर क्विज इंटरेक्टिव टाइम लाइन, विभिन्न पृष्ठभूमि वाले फोटो बूथ तथा थ्री डी वीडियो वॉल शामिल किए गए। प्रदर्शनी में महात्मा गांधी के जीवन पर विभिन्न पुस्तकें भी प्रस्तुत की गईं।

ISSN-0971-8478

स्थापित 1945

आजकल

वर्ष : 74, अंक : 7, पूर्णांक : 888
नवंबर, 2018, कार्तिक-अग्रहायण शक 1940

वरिष्ठ संपादक
राकेशरेणु

संपादक
फरहत परवीन

आवरण : राजेश कुमार

संपादकीय पत्र व्यवहार :
संपादक
आजकल, प्रकाशन विभाग
कमरा नं. 601डी, सूचना भवन
सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड,
नई दिल्ली-110003
फ़ोन : 2436 2915
ईमेल :ajkalhindi @ gmail.com
website : www.publicationsdivision.nic.in
फेसबुक www.facebook.com/publicationsdivision

संयुक्त निदेशक (उत्पादन) :
वी. के. मीणा

सदस्यता शुल्क :
वार्षिक : 230 रुपये, दो वर्ष : 430 रुपये,
तीन वर्ष : 610 रुपये

सदस्यता संबंधी पूछताछ :
गोपाल के. एन. चौधरी
संपादक (प्रसार)
कमरा नं. 56, सूचना भवन
सीजीओ कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड,
नई दिल्ली-110003
फोन नं. 011-24367453
ई-मेल : pdjucir@gmail.com
टाइपसेट : एजुकेशनल स्टोर्स, लेजर टाइप सेटिंग

इस अंक में

लेख

सिनेमा और समाज

6. भारतीय समाज का यथार्थ और हिंदी सिनेमा – जवरीमल्ल पारख
9. हिंदी फिल्म संगीत की प्रवृत्तियां – पंकज राग
15. चित्रपट : सहोदर-कलाओं की भूमिका – प्रताप सिंह
18. साक्षात्कार : सिनेमा को अलग-अलग खांचों में नहीं बांट सकते (श्याम बेनेगल से बातचीत) – राजीव श्रीवास्तव
20. सिनेमा में स्त्री – यशस्विनी पांडेय
24. श्रद्धांजलि : दिल हूम हूम करे – यूनुस ख़ान
26. अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोह और सिनेमा का बाज़ार – प्रदीप सरदाना

विष्णु खरे पर विशेष

29. श्रद्धांजलि : विष्णु खरे की आलोचकीय अंतर्दृष्टि – प्रचण्ड प्रवीर
32. स्मरण : स्मृतियों में विष्णु खरे – मनोज मोहन
36. दो कविताएं – विष्णु खरे

बाल साहित्य पर विशेष

46. बाल काव्य की दशा, दिशा और संभावनाएं – रोहिताश्व अस्थाना
48. बाल-साहित्य : प्राचीन से अर्वाचीन तक – विनोद कुमार सिन्हा

अन्य लेख

51. नारी के गहने पुरुष का शिकंजा – सुमित्रा गांधी
52. संगीत आजकल : कला और आस्वादक – पं. विजयशंकर मिश्र

कहानी

38. खुदमुख़्तार – इंदिरा दांगी

कविताएं/ग़ज़लें

40. पांच कविताएं – मंगलेश डबराल
42. चार कविताएं – अनिल विभाकर
44. चार कविताएं – पंकज चौधरी
45. चार ग़ज़लें – विपिन जैन

पुस्तक परिचय

54. लोकतंत्र के स्वर – प्रियंका कुमारी
लोक में जल – ऋतुश्री

हमारे विक्रय केंद्र : **नई दिल्ली:** सूचना भवन, सी.जी.ओ. कांप्लेक्स, लोदी रोड, दूरभाष : 011-24367260, **लखनऊ** : हाल नं. 1, दूसरी मंज़िल, केंद्रीय भवन, अलीगंज, दूरभाष : 0522-2225455, **कोलकाता:** 8, एस्प्लेनेड ईस्ट, दूरभाष : 33-22488030, **पटना** : बिहार रा. सह. बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, दूरभाष : 0612-2683407, **मुंबई** : 701 बी-विंग, सातवीं मंज़िल, केंद्रीय सदन बेलापुर, नवीं मुंबई, दूरभाष : 9522-27570686, **बंगलुरू:** एफ विंग, केंद्रीय सदन, कोरमंगला दूरभाष : 080-25537244, **हैदराबाद** : कमरा नं. 204, द्वितीय तल, सी.जी.ओ. टॉवर्स, कावादि गुड़ा-500080, **चेन्नई** : राजाजी भवन, बेसेंट नगर, दूरभाष : 044-24917673, **तिरुअनंतपुरम** : गवर्मेंट प्रेस के निकट, दूरभाष : 041-2330650

प्रसंगवश

सौ साल से ऊपर की अपनी विकास यात्रा में हिंदी सिनेमा ने आज एक विशाल उद्योग का स्वरूप ग्रहण कर लिया है जिसमें लाखों लोग प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से आजीविका पाते हैं। इसका एक बड़ा हिस्सा हिंदी सिनेमा का है- पूंजी, कमाई और रोज़गार - हर स्तर पर। सीमित संसाधनों वाले विकासशील देश के बाशिंदों को इसने सस्ता, सुगम और स्वस्थ मनोरंजन उपलब्ध कराया है। साथ ही इसने सरल भाषा-शैली में भारतीय मनीषा के रोचक आख्यानों से दर्शकों को जोड़ने का काम किया है। इस प्रकार इसने भारतीय सांस्कृतिक बहुलता को समझने और आत्मसात् करने में सिने प्रेमियों की मदद की है।

संस्कृति के मूल में मनुष्य है। वही मनुष्य समाज के मूल में है। और वही सिनेमा जैसे सांस्कृतिक किंतु मनोरंजन प्रदान करने वाले उपादानों के मूल में भी है। इसीलिए किसी भी समाज और सामाजिक व्यवस्था का अभिप्रेत अपनी इस मूल इकाई का मानसिक और सामाजिक उत्कर्ष सुनिश्चित करना होता है। साहित्य, संगीत और सिनेमा के लक्ष्य उससे अलग नहीं हो सकते।

अपने परिवेश, परिवार, समाज और संस्कृति की रचना मनुष्य स्वयं करता है। यह उसका दायित्व भी है और अभिष्ट भी। हज़ारों साल के मानव इतिहास में विश्व के अलग-अलग हिस्सों में हज़ारहां अलहदा भाषाएं, संस्कृतियां और जातीय अस्मिताएं विकसित हुईं। मानव विज्ञानियों और समाजशास्त्रियों के अनुसार इन संस्कृतियों की संख्या दुनियाभर में 5000 से 10,000 के बीच कहीं हो सकती है। इसलिए हम जानते हैं कि जीवों में सर्वश्रेष्ठ यह मनुष्य समरूप और एकभाषी कतई नहीं है। उसमें विविधताएं हैं, प्रचुर विविधताएं हैं। स्वयं हमारा देश इन जातीय, सांस्कृतिक और भाषायी विविधताओं का पालना है। हम इस बात को लेकर गर्व करते हैं कि हमने इन विविधताओं को स्वीकार करते हुए उन्हें एकता के सूत्र में बांधे रखा है। इस बड़े और उदात्त उद्देश्य को हासिल करने में सिनेमा ने महत्वपूर्ण और अकाट्य भूमिका निभाई है।

हिंदी सिनेमा के एक सौ से भी अधिक सालों के इतिहास पर नज़र डालें तो हम पाते हैं कि इसने आरंभ से ही अपना अखिल भारतीय स्वरूप तैयार किया है। आज इसका विस्तार देश की सीमाओं से बाहर समूचे दक्षिण एशिया, वहीं क्यों जहां-जहां भारतवंशी हैं कमोबेश उन सभी देशों तक किया है। इसकी मूल वजह यही है कि सिनेमा की कथावस्तु और गीत-संगीत सहित समस्त सहकारी कलाएं देश की भाषिक सांस्कृतिक बहुलता से अपनी ऊर्जा और शक्ति प्राप्त करती हैं। इस क्रम में यह न केवल अपने को संपुष्ट करती हैं बल्कि बहुलतावादी संस्कृति-उपसंस्कृतियों का भी पोषण करती हैं, उन्हें सूत्रबद्ध करती हैं।

आरंभ से ही हिंदी सिनेमा ने हिंदीपट्टी की विभिन्न संस्कृतियों के समंजन का काम इस कुशलता से किया कि जहां कहीं किंचित भेद या अंतराल था वह भर गया। इसने भाषा के स्तर पर हिंदी-उर्दू के भेद को पाटते हुए इन दोनों को समंजित कर आम बोलचाल की एक ऐसी भाषा प्रचलित की जो सबको ग्राह्य और स्वीकार्य थी। 'हिंदुस्तानी' के रूप में यह भाषा इतनी लोकप्रिय हुई कि महात्मा गांधी सहित अग्रणी राष्ट्र निर्माताओं ने इसे ही स्वाधीन देश की भाषा स्वीकार करने की पैरवी की। आज के सिनेमा में भले ही अंग्रेज़ी का थोड़ा-बहुत प्रवेश हो गया हो, अब भी उसकी भाषिक सरलता और सुगमता कायम है। यह एक बड़ा कारण है जिससे यह देशभर में, ग़ैर हिंदी प्रदेशों में भी, आसानी से समझ और स्वीकार कर ली जाती है।

21वीं सदी में हिंदी सिनेमा में मनोरंजन परोसने की प्रवृत्ति बढ़ी है। देखा जाए तो आरंभ से ही मनोरंजन ही इसका मुख्य आलंब रहा है। लेकिन उसी के बीच सोद्देश्य और सामाजिक एवं रचनात्मक संदेश देने वाली फिल्में भी बनती रही हैं। सिनेमा में यथार्थवाद केवल कुछ समय के लिए समांतर सिनेमा के रूप में आया। उसके बाद समांतर आंदोलन से जुड़े फिल्म निर्माताओं ने भी मध्यमार्ग अपनाना श्रेयस्कर समझा किंतु मनोरंजन का हालिया दौर पीछे से इस माने में अलग नजर आता है कि वे निरुद्देश्य और दर्शकों की सुप्त ग्रंथियों को सहलाने वाली होती हैं लेकिन, जैसाकि पहले भी कहा गया है, उनके बीच से ही सोद्देश्य और लीक से हटकर भी फिल्में बनाने का सिलसिला है।

नवंबर में हर वर्ष भारत अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोह का आयोजन करता है जिसमें भारत और दुनियाभर की चुनिंदा उद्देश्यपरक फिल्में प्रदर्शित की जाती हैं। 'आजकल' के इस अंक का आयोजन इसी फिल्म समारोह के अवसर पर किया गया है।

अंक की तैयारी अभी शुरू ही हुई थी कि एक के बाद एक हमने तीन ऐसी हस्तियों को खो दिया जिनके होने से सिनेमा, साहित्य और संगीत की दुनिया समृद्ध होती। विष्णु खरे हमारे समय के अग्रणी कवि थे। वह बहुत ही गंभीर और गहरी पैठ रखने वाले फिल्म समीक्षक भी थे। उनकी कविता ने समकालीन कविता को एक सर्वथा अनूठा शिल्प दिया और अनेक कवियों ने उनकी गद्यपरक कविता शैली का अनुकरण कर कविताएं लिखीं, अब भी लिख रहे हैं। सिनेमा केंद्रित इस अंक के लिए अग्रलेख लिखने का वायदा उन्होंने किया था लेकिन उससे पहले ही ब्रेन हैमरेज का शिकार हो गए। कल्पना लाजमी हमारे समय की ऐसी फिल्मकार थीं जिन्होंने निजी जीवन और सिनेमा, दोनों ही स्थानों पर लीक तोड़ने और स्त्री इयत्ता को ठोस धरातल तथा नवीन पहचान देने का काम किया। प्रस्तुत अंक में इन दोनों रचनाकारों को याद करने का प्रयास किया गया है लेकिन सुरबहार और सितार की अतुलनीय साधक, उस्ताद अलाउद्दीन ख़ां की सुपुत्री और पं. रविशंकर की पहली पत्नी अन्नपूर्णा देवी (मूल नाम रोशन आरा) के न रहने की ख़बर तब आई जब अंक प्रेस में जा चुका था। उनके शिष्यों में हरिप्रसाद चौरसिया, निखिल बनर्जी आदि शामिल थे। 'आजकल' परिवार इन सभी संस्कृति शिखरों को अपनी श्रद्धांजलि देता है। ❑



समीक्षात्मक सांकेतिक विचार

सुपरिचित कवि कुंवर नारायण भाषा एवं अर्थ की दृष्टि से भारत के टाल्स्टॉय थे। 'आजकल' के सितंबर, 2018 अंक में उनके व्यक्तित्व और कृतित्व से जुड़ी सामग्रियां बेजोड़ हैं। 'प्रसंगवश' में यह बात मन को स्पर्श कर गई कि कविता का मूल 'शब्द' है जबकि गद्य का मूल 'भाषा'। कविता 'शब्द' से अधिकाधिक अर्थ निकाल लेती है। विनोद दास द्वारा अल्बर्ट कामू की उनके उपन्यास 'आउट साइडर' से जुड़ा समीक्षात्मक सांकेतिक विचार मर्म को बेध गया।

विद्वान कवि के जनमदिन पर उनकी 'कुली' एवं 'एक अजीब दिन' से जुड़ी रचना ने मन को विशेष रूप से प्रभावित किया। श्रीराम वर्मा, ओम निश्चल, अनिल कुमार विश्वास एवं साधना अग्रवाल सहित ममता कुमारी द्वारा बारीक तथ्यों की प्रस्तुति के लिए धन्यवाद।

अरुणेंद्रनाथ वर्मा की कहानी में साहस एवं मानवता की झलक है। राकेश भ्रमर की कहानी में भारत यायावर का लेख भी चिंतनशीलता के शिखर छूता है। प्रदीप सरदाना ने नीरज के जीवन से जुड़ी एक महान बात का बड़ा सुंदर ज़िक्र किया है। पिता की फ़ोटो न होने की पीड़ा उन्हें आजीवन सताती रही।

-वेद प्रकाश पांडेय
वाराणसी

पठनीय एवं संग्रहणीय

चिंतनशील और दार्शनिक कवि कुंवर नारायण पर 'आजकल' का सितंबर 2018 अंक कुंवरजी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर समग्र रूप से प्रकाश डालता है। कुंवरजी की कविता का फलक बहुत विस्तृत है। वह अन्य कवियों से अलग और विशिष्ट हैं। इसका मूल कारण कविता में इतिहास और अध्यात्म का पुरज़ोर समावेशन 'प्रसंगवश' में लिखा भी है कि कुंवरजी ने उपनिषदों से लेकर बौद्ध चिंतन तक के सवालात को अपनी कविता का विषय बनाया। कुंवरजी एक बौद्धिक कवि के साथ एक प्रखर आलोचक भी थे। आलोचना में उनका प्रयास यह रहा कि रचनाकार का सृजनात्मक पक्ष अधिक-से-अधिक पाठकों के सामने उजागर हो। इस अंक में कुंवरजी की आलोचना दृष्टि पर विनोद दास ने एक अच्छा लेख लिखा है।

'स्मृतियों में कुंवर नारायण' में जिन 17 साहित्यकारों के विचार और संस्मरण सार-संक्षेप में प्रस्तुत किए गए हैं वह कुंवरजी को समग्रता में समझने के लिए बहुत आवश्यक और महत्वपूर्ण है। इसमें कवि की कविता और उसके जीवन का हर पहलू लगभग उद्घाटित हो जाता है। कुंवरजी ने अपनी मशहूर काव्यकृतियां 'आत्मजयी' और 'वाजश्रवा के बहाने' वैदिक या उपनिषदिक परंपरा का आधार लेकर जो काव्य-सृजन किया है वह उनके गंभीर और विशद अध्ययन का परिचायक है। सही माने में वह एक बड़े कवि थे। अमित कुमार विश्वास का लेख 'मानवतावादी चितेरे कवि' विशेष पठनीय है। अन्य लेख, कविताएं, कहानियां रोचक व ज्ञानवर्द्धक हैं। कुंवर नारायण पर केंद्रित यह अंक पठनीय एवं संग्रहणीय है।

-आनंद स्वरूप श्रीवास्तव
रायबरेली (उत्तर प्रदेश)

रचनात्मक मर्म

कुंवर नारायण पर केंद्रित 'आजकल' का सितंबर, 2018 अंक बड़ा महत्वपूर्ण, उत्प्रेरक, प्रभावोत्पादक तथा संग्रहणीय लगा। कुंवर नारायण का रचनात्मक मिज़ाज, अंतरंग की खोज, जीवित रिश्तों की पड़ताल बड़ी महत्वपूर्ण है। उनके रचनात्मक मर्म की रोशनी में एक सही मार्ग दिखाई पड़ता है, दिशा-निर्देश मिलता है।

इनके ऊपर विभिन्न लोगों के लेख, संस्मरण बड़े आत्मीय लगे। इनकी ग्यारह कविताएं सूक्तियां-सी लगीं। मानवतावादी चितेरे कवि का असली लेखन जीवन से है, अत: इनकी कहानियां बीते दिनों की तलाश तथा गुज़रे ज़माने के क़िस्से याद दिला देते हैं।

राकेश भ्रमर की 'खूंटे की गाय' और अरुणेंद्र नाथ वर्मा की 'बारिश का वह दिन', कहानी, यशस्विनी पांडेय और जीतेश्वरी की कविताएं भी अच्छी लगीं। प्रदीप सरदना का 'कारवां गुज़र गया गुबार देखते रहे' शीर्षक नीरज को श्रद्धांजलि जानकारी से परिपूर्ण है।

-नंदकिशोर तिवारी
वाराणसी (उ.प्र.)

कहानियों पर भी विशेषांक हो

पचास वर्षों से हिंदी साहित्य का विस्तृत अध्ययन करने के बावजूद, कुंवर नारायण की रचनाओं को काफ़ी पढ़ने के बावजूद 'आजकल' के सितंबर 2018 अंक में उनके बारे में कई जानकारियों की प्राप्ति हुई। इसके लिए मैं आभारी हूं। अन्य सुधी पाठक भी लाभान्वित हुए होंगे। 'आजकल' के विशेषांकों की अपनी एक विशिष्ट परंपरा है। आने वाले समय में लंबे समय तक ये विशेषांक शोधार्थियों और इस विषय के लेखकों के लिए अत्यंत उपयोगी और अनमोल होंगे। पहले भी अनुरोध कर चुका हूं कि कहानियों पर एक विशेषांक निकालिए।

-पी.के. सिंह
बुद्ध कॉलोनी, पटना

मनुष्यता के बीज बोती कविताएं

हिंदी साहित्य के महान साहित्यकार कुंवर नारायण को समर्पित 'आजकल' का सितंबर, 2018 अंक बेजोड़ लगा। यह एक संग्रहणीय अंक है। श्रीराम वर्मा का लेख 'कुंवर नारायण की कविता : एक अंतरंग संवाद' को पढ़ा। सचमुच उनकी कविताएं पाठक के साथ एक अंतरंग संवाद स्थापित कर लेती हैं। संभवत: इसलिए उनका हरेक कविता-संग्रह आज भी हिंदी साहित्य के असंख्य पाठकों के मध्य बेहद लोकप्रिय है।

कुंवर नारायण की आलोचना दृष्टि के संबंध में विनोद दास का लेख 'कुंवर नारायण की आलोचना दृष्टि' सुचिंतित और महत्वपूर्ण चर्चा प्रस्तुत करता है। निस्संदेह सरलता, बौद्धिक प्रखरता और संतुलित दृष्टि अच्छी आलोचना के आधार तत्व हैं। आलोचना का सर्वप्रमुख कार्य है किसी भी रचना के सृजनात्मक पक्ष को उजागर करना। इन सिद्धांतों का पालन कर जो आलोचना की जाती है वह साधारण पाठक को भी रचना के मर्म को समझने की क्षमता प्रदान करती है।

ओम निश्चल ने काफ़ी विस्तार से उनके विराट व्यक्तित्व और कविता पर बात की है। ऐसे युग में जब मनुष्यता विलुप्त होती जा रही है, मनुष्यता के बीज बोती कुंवर नारायण की कविताएं हमारी अनमोल धरोहर हैं। इस धरोहर को हमें संजो कर रखना होगा।

- नीरज कुमार झा
दरभंगा

भारतीय समाज का यथार्थ और हिंदी सिनेमा

जवरीमल्ल पारख



जन्म : 1952 (जोधपुर, राजस्थान)। चार से अधिक दशकों तक अध्यापन के बाद इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय से प्रोफ़ेसर पद से सेवानिवृत्त (2017)। साहित्य, मीडिया और सिनेमा पर नियमित लेखन। दस से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। यूजी सीसी ई सी का विषय विशेषज्ञता पुरस्कार (1995) और प्रो. कुंवरपाल सिंह स्मृति से सम्मानित (2015)।

हिंदी सिनेमा क्षेत्रीय सिनेमा नहीं है। इसका संबंध पूरे भारत से है। इससे भी ज्यादा सही यह कहना होगा कि इसका संबंध पूरे दक्षिण एशिया से है। इस क्षेत्र में रहने वाले वे सभी लोग जो हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी में से किसी को भी सुनकर समझ लेते हैं हिंदी सिनेमा से अपने को जुड़ा हुआ पाते हैं। हिंदी सिनेमा के अधिकतर दर्शक भारतीय उपमहाद्वीप में रहते हैं इसलिए यह स्वाभाविक है कि इसमें व्यक्त होने वाले यथार्थ का संबंध भी भारतीय उपमहाद्वीप से हो। भारतीय समाज कई तरह की विविधताओं और जटिलताओं से मिलकर बना है। यहां कई भाषाओं को बोलने वाले, कई धर्मों को मानने वाले, कई तरह की सामाजिक और सांस्कृतिक परंपराओं का पालन करने वाले लोग सदियों से एक साथ रहते आए हैं। यह कहना सही नहीं है कि इन विभिन्न जातीय समुदायों के बीच कोई द्वंद्व या संघर्ष नहीं है। ये संघर्ष परंपरागत कारणों से भी हैं और आधुनिक समाज बनाने में आने वाली बाधाओं के कारण भी हैं। इन्हीं से भारतीय समाज का यथार्थ निर्मित हुआ है और इन्हीं से उन कहानियों का जन्म होता है जो विभिन्न विधाओं के माध्यम से सिनेमा के पर्दे पर साकार होती हैं।

भारत में सिनेमा का इतिहास सौ साल से अधिक पुराना है। सवाक फिल्मों का इतिहास भी लगभग नब्बे साल पुराना है। भारत की पहली फीचर फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' (1913) जिसका निर्माण और निर्देशन दादा साहब फालके ने किया था, वह एक मूक फिल्म थी और एक लोकप्रिय हिंदू पौराणिक कथा पर आधारित थी। 1912-13 से लेकर 1930 तक बनने वाली 1300 से अधिक फिल्में मूक फिल्में थीं। 1931 में आर्देशिर ईरानी ने भारत की पहली सवाक फिल्म 'आलमआरा' का प्रदर्शन किया। उसी साल तमिल की पहली सवाक फिल्म 'कालिदास' और तेलुगु की सवाक फिल्म 'भक्त प्रह्लाद' का प्रदर्शन किया गया। न्यू थियेटर्स ने बांग्ला में 'चंडीदास' फिल्म का निर्माण 1932 में किया था। इसके बाद भारत की कई भाषाओं में सवाक फिल्मों के निर्माण की प्रक्रिया तेज़ी से शुरू हो गई। मूक फिल्मों के पूरे दौर में अधिकतर फिल्में पौराणिक, धार्मिक या ऐतिहासिक कथाओं पर आधारित होती थीं। कुछ फिल्में अरब, यूरोप आदि की लोकप्रिय कहानियों पर भी बनी थीं लेकिन सामाजिक विषयों पर फिल्मों का निर्माण बहुत ही कम हुआ। महाजनी शोषण के विरोध में बनी मूक फिल्म 'सावकारी पाश' (1925) के फिल्मकार बाबूराव पेंटर थे, जिनके लिए सिनेमा सिर्फ़ मनोरंजन का नहीं बल्कि सामाजिक संदेश देने का माध्यम भी था। भारतीय सिनेमा में यथार्थवाद की शुरुआत का श्रेय बाबूराव पेंटर को जाता है।

इसके बावजूद यह कहना सही नहीं होगा कि भारतीय सिनेमा ने यथार्थवाद को अपनी रचनात्मक अभिव्यक्ति का आधार बनाया था। इसके विपरीत सिनेमा ने अपना संबंध 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में उभरे लोकप्रिय रंगमंच पारसी थिएटर से जोड़ा। पौराणिक, ऐतिहासिक, रहस्य-रोमांच और जादुई चमत्कारों से भरपूर काल्पनिक कथाओं को पेश करने के साथ-साथ उनमें नृत्य, गीत और संगीत का समावेश किया जाना भारतीय लोक परंपरा के अनुरूप था। पारसी थिएटर ने हिंदी-उर्दू विवाद से परे रहते हुए बोलचाल की एक ऐसी भाषा की परंपरा स्थापित की जो हिंदी और उर्दू की संकीर्णताओं से परे थी और जिसे बाद में हिंदुस्तानी के नाम से जाना गया। यह भारतीय उपमहाद्वीप के बड़े हिस्से में संपर्क भाषा के रूप में विकसित हुई थी। हिंदी सिनेमा ने आरंभ से ही भाषा के इसी रूप को अपनाया। इस भाषा ने ही हिंदी सिनेमा को ग़ैर हिंदी भाषी दर्शकों के बीच भी लोकप्रिय बनाया।

1912-13 से भारत की विभिन्न भाषाओं में कथा फिल्मों का जो निर्माण शुरू हुआ, इन सौ सालों में बहुत बड़ा उद्योग बन चुका है। प्रत्येक वर्ष भारत में पच्चीस से अधिक भाषाओं में लगभग 2000 फिल्मों का निर्माण होता है। फिल्म उद्योग में प्रति वर्ष बीस हज़ार करोड़ रुपये का व्यवसाय होता है। लगभग 20 लाख लोगों का रोज़गार इस उद्योग पर निर्भर है। हिंदी फिल्में भारत में बनने वाली कुल फिल्मों के एक चौथाई से अधिक नहीं होती लेकिन व्यवसाय में उनकी भागीदारी लगभग दो तिहाई है। वैसे तो भारतीय (विशेषत: हिंदी) फिल्में चौथे-पांचवे दशक से ही भारतीय उपमहाद्वीप के बाहर भी देखी जाती थी, खासतौर पर अफ्रीका के उन देशों में जहां भारतीय बड़ी संख्या में काम के सिलसिले में जाकर बस गए थे लेकिन पिछले तीन दशकों में भारतीय फिल्मों ने अमरीका, यूरोप और एशिया के दूसरे क्षेत्रों में भी अपने बाज़ार का विस्तार किया है।

कुछ अपवादों को छोड़कर अधिकतर मूक फिल्मों को देखने से यह स्पष्ट नहीं होता था कि भारत में देश की आज़ादी का संघर्ष चल रहा है। फिल्म माध्यम की शक्ति को तो रवींद्रनाथ, प्रेमचंद आदि आरंभ में ही पहचान गए थे, इसके बावजूद यह मुमकिन नहीं हो पा रहा था कि साहित्य की तरह सिनेमा के द्वारा भी लोगों को राजनैतिक और सामाजिक रूप से जागरूक बनाया जा सकता है लेकिन सवाक फिल्मों की शुरुआत के साथ बदलाव के संकेत दिखने लगे थे। फिल्मों में जो नई पीढ़ी आ रही थी, वह सामाजिक और राजनैतिक रूप से ज्यादा जागरूक थी। 1930-40 के दशक में वी. शांताराम, एस. फत्तेलाल,

संपर्क : *सी-124, प्रथम तल, साउथ सिटी-2, गुड़गांव-122018*
मो. 9810606751

वी. दामले, बाबूराव पेंढेरकर, नितिन बोस, देवकी बोस, पी.सी.बरुआ, ज्योतिप्रसाद अगरवाला, अमिय चक्रवर्ती, धीरेंद्र नाथ गांगुली, सोहराब मोदी, हिमांशु राय, ज्ञान मुखर्जी, गजानन जागीरदार, पृथ्वीराज कपूर, महबूब खान, बिमल राय, ख़्वाजा अहमद अब्बास, बी.एन. रेड्डी, एच. एम. रेड्डी, केदार शर्मा, ज़िया सरहदी, के. सुब्रह्मण्यम आदि कई फिल्मकार उभर कर आए। 1930 तक आते-आते आज़ादी का संघर्ष जनता के व्यापक हिस्सों तक पहुंच गया था। गांधी-नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस व्यापक जन आंदोलनों की तरफ़ बढ़ रही थी, तो दूसरी तरफ रामप्रसाद बिस्मिल, अशफ़ाकुल्लाह, भगत सिंह, चंद्रशेखर आज़ाद आदि सैकड़ों युवा देश को आज़ाद कराने के लिए क्रांतिकारी मार्ग अपना रहे थे। अब आज़ादी का आंदोलन सिर्फ़ मध्यवर्ग तक सीमित नहीं रहा था। किसानों, मज़दूरों, स्त्रियों, दलितों, विद्यार्थियों और युवाओं की समस्याएं भी राजनैतिक विमर्श का हिस्सा बन रही थीं। ऐसे में यह मुमकिन नहीं था कि फिल्मों पर इसका असर न हो।

औपनिवेशिक राजसत्ता की अधीनता और सेंसर बोर्ड के नियंत्रण के कारण फिल्मकार खुलकर राजनैतिक जागरूकता वाली फिल्में नहीं बना सकते थे। इसलिए उन्होंने अपनी राष्ट्रीय और जनोन्मुखी भावनाओं को सांकेतिक रूप में व्यक्त करने की कोशिश की। सवाक फिल्मों के इस आरंभिक दौर की फिल्मों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। पहली श्रेणी उन फिल्मों की है जिनमें किसी मध्ययुगीन संत या शासक के जीवन को पेश किया गया था। दूसरी श्रेणी उन फिल्मों की है जो किसी-न-किसी सामाजिक समस्या से प्रेरित थीं। इन दोनों तरह की फिल्मों का मकसद सिर्फ़ मनोरंजन नहीं था। इनके अलावा अधिकतर फिल्में वे थीं जो मनोरंजन के लिए बनाई गई थीं और पैसा बनाना ही जिनका मकसद था। पहली श्रेणी की फिल्मों का मकसद भारत के मध्ययुग की गौरवपूर्ण तस्वीर पेश करना था। अंग्रेज़ी राजसत्ता के अंतर्गत औपनिवेशिक इतिहासकारों ने भारतीय मध्ययुग का इतिहास जिस रूप में निर्मित किया था, ये फिल्में उससे भिन्न ढंग का इतिहास रच रही थीं। राष्ट्रवादी प्रभाव इन पर भी था, लेकिन वे मध्ययुग को अंधकार युग के रूप में पेश नहीं कर रहे थे जैसाकि औपनिवेशिक इतिहासकार कर रहे थे। इस दौर के शासकों पर बनी फिल्मों का मकसद उनकी वीरता और अपराजेयता का गुणगान करना नहीं वरन् समानता और सहिष्णुता की भावना पर आधारित एक न्यायकारी व्यवस्था पर बल देना था। महत्वपूर्ण यह है कि हुमायूं, अकबर, शाहजहां आदि मुग़ल शासकों को वे विदेशी शासकों के रूप में नहीं वरन् भारतीय शासकों के रूप में ही पेश कर रहे थे। चंडीदास, विद्यापति, संत तुकाराम, संत ज्ञानेश्वर, मीरा, संत पोतना आदि पर बनी फिल्मों का मकसद धर्म का प्रचार करना नहीं था बल्कि धार्मिक कट्टरता और रूढ़िवाद के विरुद्ध धार्मिक सहिष्णुता, जाति और धर्म की संकीर्णता से ऊपर उठकर मानवीय एकता और भाईचारे की भावना पर बल देना था। निश्चय ही 1930 से पहले की पौराणिक फिल्मों से भिन्न यह महत्वपूर्ण बदलाव था और इस दृष्टि से यह प्रगतिशील कदम भी था।

इस दौर में सामाजिक समस्याओं पर भी कई फिल्में बनीं, जिनका मूक सिनेमा के दौर में लगभग अभाव था। अछूत समस्या, विधवा विवाह, अनमेल विवाह, बाल विवाह, वेश्यावृत्ति आदि समस्याओं पर साहसपूर्ण फिल्में बनाई गईं। किसानों, मज़दूरों, बेरोज़गारों आदि के जीवन की समस्याओं को भी फिल्मों का विषय बनाया गया। पहली बार साहित्य की कई रचनाओं का फिल्मांतरण किया गया। रवींद्रनाथ ठाकुर, बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय, शरतचंद्र चट्टोपाध्याय, प्रेमचंद आदि लेखकों की रचनाओं पर फिल्में बनीं। प्रेमचंद के उपन्यास पर 1938 में तमिल में 'सेवासदन' नाम से फिल्म बनाई गई। हिंदी और उर्दू के कई लेखक फिल्मों से जुड़े। यह भी उल्लेखनीय है कि मराठी और बांग्ला में बनने वाली बहुत-सी फिल्में साथ-ही-साथ हिंदी में भी बनती थीं। यहां तक कि 1945 में तमिल में बनी 'मीरा' फिल्म को हिंदी में भी बनाया गया था। इसी दौर में कई ऐसे फिल्मकार भी सामने आए जिन्होंने सामाजिक समस्याओं पर फिल्म बनाना ही अपना लक्ष्य बनाया। 1930-40 के दशकों में होने वाले इन परिवर्तनों ने ही कई गंभीर लेखकों को फिल्मों के लिए लिखने को प्रेरित किया। इस माध्यम में निहित रचनात्मक संभावना और व्यापक समुदाय तक पहुंचने की क्षमता ने भी लेखकों को इसकी ओर खींचा। दृश्य माध्यम होने के कारण सिनेमा उन लोगों तक भी पहुंच सकता था जो पढ़ना-लिखना नहीं जानते थे लेकिन इस माध्यम के साथ कठिनाई यह थी कि इसके निर्माण और प्रदर्शन पर बहुत अधिक निवेश करने की ज़रूरत पड़ती थी। ऐसी स्थिति में यह बहुत ज़रूरी था कि फिल्मकार मनोरंजक फिल्म के ज़रिए ही उन संदेशों को अभिव्यक्त करने का रास्ता ढूंढें जिन्हें साहित्य अपने ढंग से अभिव्यक्त कर रहा था।

1936 में स्थापित प्रगतिशील लेखक संघ और 1943 में स्थापित इप्टा ने साहित्य और अन्य कलाओं के साथ-साथ फिल्मों को भी प्रभावित किया था। इप्टा के अपने प्रयत्नों से बंगाल के दुर्भिक्ष पर आधारित 1946 में 'धरती के लाल' फिल्म का निर्माण हुआ। इसी साल इप्टा से जुड़े चेतन आनंद ने इप्टा के सहयोग से ही 'नीचा नगर' फिल्म बनाई। यह फिल्म उसी साल केन्स फिल्म समारोह में दिखाई गई और उसे दो अन्य फिल्मों के साथ सर्वोत्तम फिल्म का पुरस्कार प्राप्त हुआ। विश्व के किसी भी समारोह में पुरस्कृत होने वाली यह पहली भारतीय फिल्म थी। इसके अतिरिक्त इसी साल प्रदर्शित होने वाली वी. शांताराम की फिल्म 'डॉ. कोटनीस की अमर कहानी' में भी इप्टा से जुड़े कलाकारों का सहयोग रहा था। हिंदी सिनेमा की प्रगतिशील और यथार्थवादी धारा से इन फिल्मों का बहुत गहरा संबंध है। इन फिल्मों से पहले भी कई फिल्में किसानों और मज़दूरों की समस्याओं पर और समाज में व्याप्त वर्ग विभाजन पर बन चुकी थीं लेकिन स्पष्ट राजनैतिक परिप्रेक्ष्य के साथ बनने वाली पहली फिल्में 'धरती के लाल' और 'नीचा नगर' ही थीं। इस दृष्टि से इन दोनों फिल्मों का ऐतिहासिक महत्व है।

आज़ादी के बाद की बदली परिस्थितियों ने फिल्म क्षेत्र में इप्टा की संगठित भूमिका को हमेशा के लिए ख़त्म कर दिया लेकिन इस दौरान जो लेखक और कलाकार प्रलेस और इप्टा से जुड़े थे, उनमें से कइयों ने सिनेमा को आजीविका का ऐसा क्षेत्र मानकर अपनाना शुरू कर दिया जहां कुछ हद तक उनकी रचनात्मक ज़रूरतें भी पूरी होने की उम्मीद थी। 1950-60 का दौर जिसे भारतीय सिनेमा का स्वर्ण युग कहा जाता है, इसमें इन प्रगतिशील लेखकों और कलाकारों की ऐतिहासिक भूमिका रही है। इस दौर की हिंदी, बांग्ला, मराठी, असमिया, तमिल, मलयालम आदि भाषाओं की उल्लेखनीय फिल्मों से ही यह जाना जा सकता है कि इप्टा के कलाकारों ने सिनेमा को किस हद तक प्रभावित किया होगा। इस दौर के फिल्मकारों ने इस बात का ध्यान रखा कि फिल्मों द्वारा जो संदेश वे दर्शकों तक पहुंचाना चाहते हैं, उन्हें लोकप्रिय ढंग से पहुंचाया जाए। इसके लिए उन्होंने यथार्थवाद और पहले से चली आ रही मेलोड्रामाई शैली का संयोजन किया। उन्होंने फिल्म की भाषा, गीत, संगीत और संवादों पर भी ख़ास ध्यान दिया। इसके लिए उन्होंने शास्त्रीय और लोक परंपराओं का मिश्रण किया। इस बात का ध्यान रखा कि भारत एक बहुसांस्कृतिक और बहुभाषायी देश है इसलिए उन्होंने भारत की विभिन्न जातीय और सांस्कृतिक परंपराओं को अपनी फिल्मों में समाहित करने का प्रयास किया।

सिनेमा एक लोकप्रिय माध्यम है। इसमें सब तरह के फिल्मकार सक्रिय हैं। सिनेमा को साहित्य की तरह कला मानने वाले फिल्मकार भी हैं, तो ऐसे फिल्मकार भी हैं जिनके लिए यह महज़ पैसा बनाने और अमीर बनने का ज़रिया है। साहित्य की तरह सिनेमा भी अपनी प्राणशक्ति समाज से ही प्राप्त करता है। लोकप्रिय सिनेमा शुरू से ही मूलगामी सिनेमा नहीं रहा लेकिन इसने लोकप्रियता के ढांचे में रहते हुए ही उन ज़रूरी कार्यभारों को अंजाम देने की कोशिश की जिससे कि धर्मनिरपेक्ष और लोकतांत्रिक गणतंत्र के रूप में देश को बनाए रखने में मदद मिले। भारतीय गणतंत्र की स्थापना के समय जो फिल्मकार सक्रिय थे उन्होंने अपने-अपने ढंग से न सिर्फ़ उस समय के यथार्थ को अपनी फिल्मों का विषय बनाया है बल्कि उस भविष्य की भी चिंता की है जो इस वर्तमान से ही बनेगा। इसलिए वे अपनी फिल्मों को ऐसे भारत के निर्माण के हिस्सेदार बनाना चाहते थे जो काफी हद तक उन्हीं आदर्शों और मूल्यों पर टिका था जिनका उल्लेख भारतीय संविधान में किया गया था और जिसका स्वरूप आज़ादी की लड़ाई के दौरान बना था। इन्होंने कोई क्रांतिकारी एजेंडा हाथ में नहीं लिया था लेकिन इन फिल्मकारों को यह महसूस हो रहा था कि समतावादी भारत के बनने में भी कई मुश्किलें हैं जिनको दूर करना ज़रूरी है। इनमें ग़रीबी, भुखमरी, औरतों की आज़ादी, दलितों का उत्पीड़न, मुनाफ़ाखोरी और लोभ-लालच के लिए ग़ैरकानूनी कामों में लिप्त रहना और धार्मिक और सांप्रदायिक वैमनस्य आदि का उल्लेख किया जा सकता है। भारतीय सिनेमा ने आज़ादी के बाद के दो दशकों तक इन सभी सवालों को अपने ख़ास अंदाज़ में उठाया है। वे किसी एक समस्या को केंद्र में रखते हुए भी दूसरे मसलों को भी मूल कथा से इस तरह जोड़ देते हैं कि वे उनसे अलग और पैबंद की तरह नज़र न आएं। यहां तक कि इनमें से कुछ ने फिल्म-रूढ़ि का रूप ले लिया था। मसलन हिंदू और मुसलमान या अन्य कोई धार्मिक अल्पसंख्यक की आत्मीय मित्रता। फिल्म की कथा कोई भी क्यों न हो, इसमें धार्मिक सहिष्णुता और सद्भाव को ज़रूर शामिल किया जाता था। इस दौर में ऐसी बहुत-सी फिल्में बनीं जिनमें तत्कालीन राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था में निहित जनविरोधी रुझानों की आलोचना के साथ-साथ भविष्य की सुंदर संकल्पना भी पेश की गई थीं। 'दो बीघा ज़मीन', 'मदर इंडिया', 'बूट पालिश', 'सुजाता', 'आसमान महल', 'प्यासा', 'बैजू बावरा', 'दो आंखें बारह हाथ', 'साहब बीवी और गुलाम', 'मुग़ले आज़म', 'दायरा', 'काबुलीवाला', 'अनाड़ी', 'जागते रहो', 'जागृति', 'जोगन', 'दहेज', 'पतिता', 'सीमा', 'धूल का फूल', 'धर्मपुत्र', 'नया दौर', 'पैग़ाम', 'अब दिल्ली दूर नहीं', 'अनुराधा', 'मुझे जीने दो' आदि इस दौर की महत्वपूर्ण फिल्में हैं। इस दौर के प्रमुख फिल्मकारों में वी. शांताराम, केदार शर्मा, महबूब, बिमल राय, अमिय चक्रवर्ती, गुरुदत्त, राजकपूर, ऋषिकेश मुखर्जी, हेमेन गुप्ता, बी आर चोपड़ा के नाम उल्लेखनीय हैं।

यह अवश्य है कि साठ के दशक के बाद सिनेमा की यह परंपरा कमज़ोर होने लगी तथा व्यावसायिकता और सतही लोकप्रियता फिल्मों पर हावी होने लगी। इसी ने संभवत: नए फिल्मकारों को प्रेरित किया कि वे सिनेमा की लोकप्रिय शैली का त्याग करे और एक नया मार्ग अपनाए। 1960 के दशक तक सिनेमा में व्यावसायिकता और अव्यवसायिकता या कलात्मकता और अकलात्मकता जैसा भेद नहीं था। इस भेद की शुरुआत ख़ासतौर पर समानांतर सिनेमा से हुई जिसने सजग रूप से फिल्मों की लोकप्रिय परंपरा से अपने को अलगाने की कोशिश की। सत्यजित राय, ऋत्विक घटक और मृणाल सेन ने छठे दशक में और बाद में अदूर गोपालकृष्णन, जी. अरविंदन, एम. एस. सथ्यु, श्याम बेनेगल, कुमार शहानी, मणि कौल, सईद अख़्तर मिर्ज़ा, गिरीश कासरवल्ली, गोविंद निहलानी, बासु भट्टाचार्य, बासु चटर्जी, सुधीर मिश्र, बुद्धदेव दासगुप्त, केतन मेहता आदि फिल्मकारों ने सचेत रूप से फिल्मों में यथार्थवाद और नवयथार्थवाद की उन परंपराओं को अपनाया जो यूरोप में पांचवें और छठे दशक में प्रतिष्ठित हुई थीं। इन फिल्मकारों ने तत्कालीन राजनैतिक और सामाजिक यथार्थ को नई और प्रयोगशील सिनेमाई भाषा में अपनी बात कहने की कोशिश की। इस दौर में साहित्यिक कृतियों पर भी उल्लेखनीय फिल्में बनीं। नब्बे के दशक तक आते-आते न्यू वेव (समानांतर) सिनेमा की यह परंपरा भी कई बाहरी और अंदरुनी कारणों से कमज़ोर हो गई।

हिंदी फिल्मों ने आरंभ से ही अपने को क्षेत्रीय और भाषाई संकीर्णता से दूर रखा। उन्होंने फिल्मों की कहानी को ऐसे रूप में प्रस्तुत किया कि वे किसी एक क्षेत्र तक सीमित न दिखाई दें और यदि वे किसी क्षेत्र विशेष से संबद्ध दिखाई भी दें तो उसकी अपील अवश्य सार्वभौमिक हो। प्रसिद्ध फिल्मकार महबूब की अत्यंत लोकप्रिय फिल्म 'मदर इंडिया' का उदाहरण लिया जा सकता है जो गुजराती पृष्ठभूमि में बनी है जिसे पात्रों की वेशभूषा से आसानी से पहचाना जा सकता है, लेकिन फिल्म के किसी भी अंश में कोई पात्र या प्रसंग इस बात का संकेत नहीं देता कि उनका संबंध किसी ख़ास क्षेत्र से है। इस फिल्म के गीत जो शकील बदायुंनी ने लिखे थे और जिसका संगीत नौशाद ने दिया था उसका विदाई गीत खड़ी बोली में लिखा गया है लेकिन ब्रज-अवधी के शब्दों के मिश्रण ने उसे लोकगीत का ऐसा गहरा स्पर्श दे दिया है कि वह आज भी विवाह के अवसर पर गाया - बजाया जाता है: 'पी के घर आज प्यारी दुल्हनिया चली, रोए माता-पिता उनकी दुनिया चली'। इस गीत को लोकमय बनाने में इसके संगीत का योगदान सर्वाधिक है। यह संगीत ही है जो लोकचेतना के सर्वाधिक नज़दीक है। क्या यह महज़ संयोग है कि जो गीत अपनी आत्मा और अपनी देह दोनों में पूर्णत: लोकमय है और इसीलिए पूरी तरह भारतीय भी है, उस गीत को महबूब की फिल्म के लिए लिखा शकील बदायुंनी ने, संगीत दिया नौशाद ने, गाया शमशाद बेगम ने और फिल्माया गया नरगिस पर। यह वह साझा विरासत है जिसे हिंदू और मुसलमान के ख़ानों में बांटकर नहीं देखा जा सकता। भारतीय फिल्म संगीतकारों ने जो मधुर और कर्णप्रिय संगीत रचा है, वह अपनी मिसाल खुद है।

1990 के दशक में सिनेमा पर भी बदलती वैश्विक परिस्थितियों का प्रभाव दिखाई देने लगा था जिसे भूमंडलीकरण के नाम से जाना जाता है। फिल्म के निर्माण और प्रदर्शन की पूंजी पर बढ़ती निर्भरता ने उसे बाज़ार का मुखापेक्षी बना दिया। बाज़ार की ताकतें इस बात का प्रचार करती हैं कि सिनेमा एक लोकप्रिय माध्यम है जिसका मुख्य कार्य मनोरंजन प्रदान करना है। उसकी सार्थकता उसके लोकप्रिय होने और मनोरंजन प्रदान करने में ही है लेकिन फिल्मों की लोकप्रियता का निर्धारण फिल्म की अंतर्वस्तु और उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति पर नहीं बल्कि ऐसे बाहरी तत्वों पर ज्यादा निर्भर रहती है जो फिल्म की गुणवत्ता से प्रत्यक्षत: कोई संबंध नहीं रखतीं। मसलन, अभिनेताओं की 'मर्द' छवि, अभिनेत्रियों के 'यौन-सौंदर्य', हिंसा के उत्तेजक दृश्य, नृत्य और संगीत का उन्मादपूर्ण इस्तेमाल लोकप्रिय सिनेमा के अनिवार्य तत्व इसीलिए बन गए हैं कि इनके द्वारा मनोरंजन की एक ख़ास तरह की संकल्पना को स्थायित्व प्रदान किया जा सके लेकिन ये तत्व अपने में पूर्ण नहीं हैं। इनका होना किसी फिल्म की सफलता की गारंटी नहीं है। फिल्म के इन तत्वों को ऐसी किसी कहानी के बीच पेश करना होता

पृष्ठ 35 पर जारी....

हिंदी फिल्म संगीत की प्रवृत्तियां

पंकज राग



जन्म : 30 अक्तूबर, 1964। कविता-संग्रह : 'यह भूमंडल की रात है'। फिल्म इतिहास : 'धुनों की यात्रा'। संपादन : 'रायसेन का पुरातत्व', 'राजगढ़ का पुरातत्व', 'मंदसौर का पुरातत्व', '1857-द ओरल ट्रेडिशन' (अंग्रेज़ी पुस्तक) आदि। मीरा स्मृति पुरस्कार, केदार सम्मान, स्पंदन सम्मान, शमशेर सम्मान सहित कई प्रतिष्ठित पुरस्कारों से सम्मानित।

पिछले कुछ वर्षों में हिंदी फिल्म-संगीत के किसी भी पक्ष का विश्लेषण करते समय कई पहलुओं और मानकों का ध्यान रखने के साथ-साथ एकीकृत और संगठनात्मक तरीके से परिवर्तन, संघर्ष, निरंतरता और बदलावों को भी शामिल करना ज़रूरी है, इस प्रकार किसी विशेष समय-अवधि के संगीत के विश्लेषण के वक़्त न सिर्फ़ सुर, राग, ताल, धुनों और सुर संबंधी प्रदर्शन के स्तर के साथ-साथ व्याख्या के स्तर पर संगीत की मांग और प्रभाव के साथ, उस समय की सामाजिक, आर्थिक और राजनीति का मनुष्य की चेतना से जो संबंध निर्मित होता है उसे देखा जाना चाहिए।

इस आलेख में सामाजिक संदर्भ में परिवर्तनों से प्रभावित होने वाली बारीक संवेदनशीलताओं के रुझान के अनुसार हिंदी फिल्म-संगीत में नए तरह के बदलावों को विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है।

हिंदी फिल्म-संगीत की शुरुआत 1931 में निर्मित पहली टाकीज़, 'आलमआरा' और पहले गीत 'दे दे खुदा के नाम पर प्यारे, ताक़त है गर देने की' के गीत से हुई, जिसके गायक थे डब्लू. एम. ख़ान और संगीतकार थे फ़िरोज़ शाह मिस्त्री। उस युग में जब फिल्मों में साधारण और रूढ़िवादी प्रकार की कथा, किसी कहानी जैसी गतिशील होती थी और गीत-संगीत फिल्म की कहानी को आगे बढ़ाते जाते थे, साथ ही फिल्मी गीतों का प्रयोग मुख़तलिफ़ भावनाओं को प्रदर्शित करने के लिए किया जाता था। हारमोनियम, तबला और बांसुरी मुख्य संगीत-वाद्य होते थे और पार्श्व-गायन उस समय तक लोकप्रिय नहीं हुआ था और उसकी जड़ें अभी फिल्मी क्षेत्र में जमी नहीं थीं। गीत फिल्म अदाकारों द्वारा ही गाए जाते थे और वे अदाकार गीत-संगीत में अच्छी तरह से प्रशिक्षित नहीं होते थे। उनके लिए रचित गीत और संगीत-संरचना साधारण होती थी और वे गीत अधिकतर धीमी गति के होते थे। पहले के दौर के फिल्मी-गीत अधिकतर शास्त्रीय रागों और कुछ उनमें शुद्ध रूप में कुछ मिश्रित और क्रम-परिवर्तन और कुछ जोड़ पर आधारित होते थे और इस तरह शुरुआती फिल्म-संगीत में काफ़ी हद तक रचनात्मकता से परिपूर्ण मधुर गुणवत्ता में कमी होती थी जो बाद के वर्षों में इस तरह के संगीत की कसौटी बन गई। अधिकतर कलाकार पारसी थिएटर से आते थे या उस जगह से जिसे 'कोठा' संस्कृति कहा जाता था। इस तरह इस संगीत में उनका रूप का आना ज़रूरी भी था जो नाक से या रीतिबद्ध तरीके से गाया जाता था (स्त्री गीतकार अक्सर एक कंपन या मर्दाना तरीके से 'काली पांच' की रेंज में) या पारसी थिएटर में मौखिक बातचीत जैसी धुनें बनाई जाती थीं। अक्सर ये शुरुआती धुनें बॉम्बे टाकीज़ की संगीत-निर्देशक सरस्वती देवी द्वारा फ़िल्म 'अछूत कन्या' (1936) के गीत 'मैं बन की चिड़िया बन में डोलू रे' और 'खेत की मूली' जैसी होती थी जिसकी तुलना बाल-कविताओं से की गई है। फिल्म 'प्रकाश' के संगीतकार लल्लूभाई नायक (जिनके लिए बनारस की राजकुमारी ने 'बंबई की सेठानी' के लिए अपना सर्वप्रथम गीत 'हमसे क्यों रूठ गए) से लेकर फिल्म 'बंबई मेल' का 'किसकी आमद का यूं इंतज़ार है' के गंभीर गीत से लेकर, शृंगार रहित गीतों और प्रन्सुख नायक का इम्पीरियल फिल्मस (1932 में बनी फिल्म 'माधुरी' के जैसे गीत 'सरिता सुगंध शोभे वसंत', प्रसिद्ध शास्त्रीय गायक पटवर्धन) और रणजीत मूवीटोन के झंडे खान (जिन्होंने 1941 में बनी फिल्म 'चित्रलेखा' में राग भैरव में सभी गीतों में संगीत दिया था) तक के गीतों में अभिव्यक्ति की सादगी ज़रूर अलग-अलग हो सकती है लेकिन कुल मिलाकर पहले के गीतों के 'ताल' और 'रस' की संगीत आकृति अधिकतर एक ही घेरे की सीमाओं के भीतर होती थी।



फिल्म : 'अछूत कन्या' का गीत 'मैं बन की चिड़िया बन में डोलूं रे' का दृश्य

स्टूडियो व्यवस्था के दिनों में, जब संगीत-निर्देशक किसी स्टूडियो विशेष के वेतनभोगी कर्मचारी हुआ करते थे, दूसरी तरफ़ हमें दामोदर शर्मा को देखना होगा जिन्होंने सिर्फ़ पैरामाउंट और सरोज मूवीटोन के सुंदरदास भाटिया के लिए धार्मिक-परंपरा और समाज के पदचिन्हों पर चलने वाले गीत तैयार किए जबकि दूसरी तरफ़ कोलकाता के मदन थिएटर के बृजलाल वर्मा जो मुख्यत: पारसी थिएटर-स्टाइल के लिए जाने जाते थे, ने अधिकतर गीत मास्टर निसार और ग्लैमरस और भड़कीली जहां आरा, कज्जन तथा 'शीरीं फ़रहाद' (1931), 'लैला मजनू' (1931), 'गलरू ज़रीना' (1932), 'ज़हरीला सांप' (1933) और 'मेरा प्यारा' (1935) के लिए गीत गाए और 'वो मुक़द्दर ना रहा वो ज़माना ना रहा', 'राहत का इस तरह से ज़माना गुज़र गया' और

संपर्क : सी-II/43, तिलक लेन, तिलक मार्ग, नई दिल्ली-110001 मो. 8800211162

'मेरा प्यारा गीत दिलारा दुलारा साजन,' जैसे हिट लेकर आए हालांकि मदन थिएटर की प्रसिद्ध संगीतमयी रचना 'इंद्रसभा' (1931)। वज़ीर खान द्वारा गाए गए और नागरदास नायक द्वारा दिए गए संगीत-निर्देशन में अभी तक सभी 71 गीतों में ब्रज के लोक-संगीत नाटकों, पारंपरिक ग़ज़ल स्टाइल, पारसी नाटकीय-वाक्पटुता और यहां तक कि उस सदी को परिभाषित करने वाले स्टाइलिस्ट और संरचनात्मक मापदंडों के भीतर रचे गए यूरोपियन ओपेरा के शेड्स में दोनों द्वारा स्वरबद्ध और संगीतबद्ध इकहत्तर गीत सर्वकालिक रिकॉर्ड साबित हुआ। कोल्हापुर का प्रभात स्टूडियो (जो बाद में पूना स्थानांतिरत हो गया) की 'अयोध्या का राजा' (1932), 'माया मछिन्द्र' (1932), 'सैरंध्री' (1932) आदि जैसी धार्मिक और सामाजिक फिल्मों में गोविंदराव तेम्बे की हारमोनियम पर आधारित शास्त्रीय रचनाएं जैसे 'सकल, जगत में छत्रपति सुमरत सब जन' और 'छोड़ आकाश को सितारे जो एक तरह से मराठी रंगमंचीय शैली का ही थोड़ा संशोधित विस्तार था। ये केशवराव भोले ही थे जिन्होंने पियानो और हवाइयन गिटार जैसे वाद्ययंत्र से परिचय करवाया और 'अमृतमंथन' (1934) में 'कमसिनी में दिल पे' में सुरों को तोड़ते हुए एक ऐसी रचना बना कर अधिक बारीक और प्रयोगात्मक गीतों की तरफ़ अग्रसर हुए और फिल्म 'दस बजे' (1942) कोमलता से 'उसने कहा इनकार क्यों बन्ने में मेरी चांदनी' का रोमांटिक गीत ऑर्केस्ट्रा किया। हालांकि मराठी 'नाट्य' और 'भाव' संगीत के शेड कई मराठी संगीत-निर्देशकों ने हिंदी फिल्मों के लिए तैयार किए गए गीतों में कायम रखे। मास्टर कृष्णाराव ने शास्त्रीय संगीत को मधुर बना कर यमन-कल्याण पर आधारित 'अमर ज्योति' (1936) के गीत 'सुनो सुनो वन के प्राणी' और फिल्म 'वहां' (1937) का गीत 'हर गली में हैं बग़ीचे' में भावों और सुरीली चमक बनाए रखी और इस तरह प्रभात स्टूडियो की सामाजिक फिल्मों में आम आदमी की भावनात्मक मनोदशा और संवेदनशीलताओं के अनुसार फिल्म-संगीत रचे जाने की आवश्यकता को रेखांकित किया। दादा चंदेरकर (मास्टर विनायक की फिल्मों के संगीतकार) भी 'जमुना बीच खेलूं खेल', 'ब्रह्मचारी' (1938) जैसे लुभाने वाले बेहद लोकप्रिय गीत रचने की अपनी शैली से बाहर आकर और 'अमृत' (1941) में मराठी नाट्य संगीत 'तान' का प्रमुखता से इस्तेमाल करते हुए 'बग़ीचा ये सरकारी कहे ये तोड़ी कली चंपा की' (1941) जैसे ब्रिटिश नस्लवाद पर व्यंग्यात्मक संरचना की और अन्ना साहेब मणिकर में उसी नाट्य का 'घर की लाज' (1941) में यमन पर आधारित गीत 'गोकुल अब कहां जाऊं' में प्रयोग किया। यह प्रवृत्ति सुधीर फडके ने 1960 के उत्तरार्ध में भोपाली पर आधारित गीत 'ज्योति कलश छलके' और फिल्म 'भाभी की चूड़ियां' (1961) में यमन पर आधारित रचना 'लौ लगाती गीत गाती' में यह प्रवृत्ति कायम रही जबकि फिल्मों में संगीत देने में पारंपरिक शैलियां जैसे, मीर साहेब ने मिनर्वा मूवीटोन के साथ फिल्म 'पुकार' (1939) में (दार्शनिक गीत जैसे 'ज़िंदगी का साज़ भी क्या साज़ है' और मुश्ताक़ हुसैन के पुराने थिएटर स्टाइल के गीत) में सामंती आचार-विचार से सजी हुई महफ़िल स्टाइल के धीमी गति के धीमे गीत बनने जारी रहे। मधुलाल मास्टर की छोटी और सरल रचना और 'मुर्की' से सजी हुई रफ़ीक़ घज़नवी की रोमांटिक ग़ज़लें और गीत, कलकत्ता के नए थिएटर का वह संगीत था जिसने संगीत के लिए एक नई ज़मीन तराशी। बंगाल की पारंपरिकता और आधुनिकता को प्रदर्शित करता, वहां के भद्रलोक माहौल को उभारता और प्रबल पूंजीपति वर्ग को दर्शाता हुआ- जो अभी तक पूरी तरह से अपनी भूमि-आधारित जड़ों से मुक्त नहीं हुआ था- उन दिनों का संगीत था। इस संगीत ने भावनाओं के संगीत के युग की शुरुआत कर दी थी, (यह उस समय के बंगाली साहित्य की अति संवेदनशील शैली के समानांतर था, जो नए बंगाली भद्रलोक में बहुत प्रिय था), जैसे आर.सी. बोराल स्वदेशी ऑर्केस्ट्रा के साथ, रवींद्र संगीत, लोक-संगीत, ठुमरी और ग़ज़ल का उपयोग सरल, मधुर और भावनात्मक रूप में किया करते थे।

हार्मोनी के सर्वप्रथम इस्तेमाल से और ऑर्गन और सेलो जैसे पश्चिमी उपकरणों के अधिक उपयोग के साथ संगीत एक कदम आगे बढ़ा।

पंकज मल्लिक के मामले में उनके गाए अमर गीत जैसे, 'एक बांग्ला बने न्यारा' ('प्रेसिडेंट', 1937), 'बाबुल मोरा नैहर छूटल जाए' ('स्ट्रीट सिंगर', 1934), 'मैं सोते भाग जगा दूंगा' और 'तुम बिन कल ना आवे' ('लगन', 1942), 'शराबी सोच कर मतवाले' ('मुक्ति', 1937), 'करूं क्या आस निरास भई' ('दुश्मन', 1939), 'पिया मिलन को जाना' ('कपलकुंडाला', 1939), 'मैं क्या जानूं क्या जादू है' ('ज़िंदगी', 1940) और 'डोले हृदय की नैया' ('विद्यापति', 1937) और इसके चलते भी कुंदन लाल सहगल, पंकज मल्लिक और कानन देवी सुपरस्टार गायक के रूप में स्थापित हुए।



पंकज मल्लिक और के एल सहगल

इस दशक के दौरान स्वतंत्रता आंदोलन के लिए उमड़े जनसमूह ने निश्चित स्तर पर न केवल देशभक्ति से परिपूर्ण गीतों में ऊंची पिच और तेज़ गति के साथ बल्कि कुछ हद तक फिल्म-संगीत की रचना में एक विशेष उत्साह और प्रेरण ादायक स्वर मिला, मिसाल के तौर पर मास्टर मोहम्मद द्वारा वाडिया मूवीटोन की फिल्मों के लिए जयदेव द्वारा रचित गीत- 'पराई पीर जाने वीर भारत हो तो ऐसा हो', ('वीर भारत', 1934) जो आने वाले वर्षों में एक महत्वपूर्ण संगीत-निर्देशक बन गए थे। 'हम वतन के, वतन हमारा' ('जय भारत', 1936) और 'झंडा ऊंचा रहे हमारा' ('लतारू ललना', 1938)। अनिल विश्वास पहले संगीत-निर्देशक थे जिन्होंने सामाजिक-राजनैतिक जागृति के लिए, 'कोरस' को, समाज की आवाज़ के प्रतिबिंब के रूप में प्रस्तुत किया, उनकी कुछ संगीतमयी रचनाएं महज़ देशभक्ति की रचनाएं नहीं थीं (उनकी देशभक्त रचनाओं का सबसे प्रसिद्ध सदाबहार उदाहरण-'आज हिमालय की चोटी से' ('किस्मत', 1943) बल्कि वे रचनाएं, भारतीय समाज के भीतर बुनियादी विरोधाभासों और असमानताओं पर सवाल उठाती हैं और परिवर्तन की आवश्यकता की वकालत करती हैं। 'निराला हिंदुस्तान' (1938) का समूह गीत, 'धनवानों-धनवानों ग़रीबों की परवाह करो', 'कामरेड' (1938) का 'जागो जागो सोने वालों अब तो हुआ सवेरा', 'हमारी बात' (1943) का 'बादल से निकल चला यह दल मतवाला रे' और 'करवटें बदल रहा है आज सब जहां' के उदार उत्साही सुर। यथार्थवादी फिल्म 'रोटी' (1943) में किसी प्रकार की 'इंडियनइजेड ब्रर्चियन' प्रणाली का उपयोग, राग मालकौंस पर आधारित ये मार्मिक गीत, 'रोटी रोटी क्यों रटना', 'है मक्कार ज़माना और ग़रीबों पर दया कर के बाबा एहसान करते हो', फिल्म 'भूख' (1947) के

गीत 'सारे जग में पेट का धंधा', और 'इस जग में ग़रीबों का नहीं है ठिकाना'। इन सामाजिक-राजनैतिक संवेदना के विषयों पर रचे गए फिल्म-संगीत के उदाहरणों के कारण, काफ़ी जीवंत और जागरूक मनोदशा को दर्शाने की आवश्यकता के लिए ही शायद ऑर्केस्ट्रा के विस्तार की ज़रूरत समझी गई और पहली बार अनिल विश्वास के द्वारा भारतीय फिल्म संगीत में बारह-पीस ऑर्केस्ट्रा की शुरुआत की आवश्यकता को महसूस किया।

दुर्भाग्यवश, हिंदी की अधिकांश फिल्मों में ऐसी विषयगत सामग्री की तुलनात्मक कमी के चलते, हिंदी संगीत में इस तरह के समाजशास्त्रीय फिल्म गीत-संगीत की शैली कभी भी प्रभावशाली प्रवृत्ति नहीं बन सकती थी, हालांकि 'धरती के लाल' (1946) और 'नीचा नगर' (1942), 'चौरंगी' (1942) में क़ाज़ी नज़रुल इस्लाम के कुछ बेमिसाल गीत जैसे 'सारा दिन रात पीती हाथ हूंन दुखाई रे', राजकपूर की सामाजिक झुकाव की 'आवारा' और 'श्री 420' जैसी फिल्में, सलिल चौधरी की 'दो बीघा ज़मीन' और 'जवाहर' (उनके सामूहिक गीतों की प्रदर्शन सूची मुख्यत: बांग्ला और बाहरी फिल्मों में है) या फिर उतरोत्तर उच्च होते स्वरों के रूप में, प्रतिभा के धनी एस. डी. बर्मन की क्लासिक 'प्यासा' (1957) के सदाबहार गीत जैसे 'ये महलों ये तख़्तों ये ताजों की दुनिया' और 'जिन्हें हिंद पर नाज़ है वो कहां हैं।'

सी. रामचंद्र के पश्चिम, लैटिन और अफ्रीकन बीट्स, कोरसदल का सीटी बजाना और बैनी गुडमैन के स्टाइल के ऑर्केस्ट्रा का 'आना मेरी जान मेरी जान संडे की संडे' ('शहनाई', 1948) आख़िरकार उनके कैरियर में एक रचना मानी जाएगी जो 'अंग्रेज़ी' तरीकों का उपहास करने के लिए याद रखी जाएगी- ऐसी विशेषता जो शुद्ध भारतीय मेलोडिक रूपों के विपरीत गोप, भगवान और याकूब जैसे हास्य कलाकारों द्वारा अभिनीत फिल्मों की विशेषता है। सी. रामचंद्र को हिंदी फिल्मों में रॉक एंड रोल के सबसे पहले प्रयोग का श्रेय दिया जाता है, 'मैं हूं एक ख़लासी' ('सरगम') और 'ईना मीना डीका' ('आशा') के तीखे गीत के साथ-साथ राग पीलू पर आधारित लता मंगेशकर का बेहतरीन गीत 'धीरे से आजा रे अंखियन में' ('अलबेला'), राग खमाज पर आधारित गीत 'तुम क्या जानो तुम्हारी याद में', ('शिन शिंनाकी बूबला बू)' और मधुर और अलौकिक गीत 'आंखों में समा जाओ, इस दिल में रहा करना' ('यास्मीन')।

यहां तक कि इन गीतों में ऊपरी तौर पर सामाजिक और राजनैतिक संदेश प्रतिबिंबित नहीं होते, मगर जनता की आवाज़ का मतलब, देश के कई हिस्सों के अर्जित लोक-प्रभावों और मुहावरों को फिल्म संगीत में समाहित कर समाज के प्रसन्न क्षणों को व्यक्त करना या व्यक्ति की व्यक्तिगत भावना और आत्मनिरीक्षण का प्रतीक बन गए थे गीत और यह 1940 के दशक से ही बंबई के फिल्म सिनेमा में देश के सभी भागों से कलाकारों और संगीत-निर्देशकों के आने के कारण अब यह एकाधिकारवादी केंद्र बन गया था। फिल्म संगीत अब शास्त्रीय और सभ्य सामंती संगीत से हट कर एक व्यापक और 'मास' पर आधारित माध्यम बन गया था।

जब अनिल विश्वास अपने कई गीतों में पूरबी और बंगाली लोकगीतों का प्रयोग कर रहे थे, गौतम हैदर ने फिल्म संगीत में पंजाब के लोकगीतों से प्रभावित होकर अपने 'ढोलक' बीट्स और लय से पंजाब स्कूल की शुरुआत कर दी, नूरजहां और शमशाद बेगम (जो 'ख़ज़ांची' (1941) फिल्म में आई थीं) ने युवा लड़कियों को साइकिल चलाते हुए दिखा कर स्त्रियों के लिए नया मुक्तिवादी गीत, 'सावन के नज़ारे हैं अहा अहा' जो रूढ़िवादी घरों में गर्म चर्चा का विषय बना) के ज़रिए गायन की प्रसन्नचित्त शैली से परिचय करवाया। और यहां तक कि लता मंगेशकर को उनका पहला हिट 'दिल मेरा तोड़ा कहीं का ना छोड़ा' ('मजबूर', 1948- देने का श्रेय भी उन्हीं को है। अनिल बिस्वास और लता मंगेशकर ने इस गीत की धुन पहली बार 555 सिगरेट के टिन पर उस समय बजाई, जबकि दोनों गोरेगांव रेलवे स्टेशन पर लोकल ट्रेन की प्रतीक्षा कर रहे थे।

पंजाब स्कूल के विभिन्न रंग, हिंदी फिल्म संगीत में वर्षों से जारी रहेंगे, जिसमें पंडित अमरनाथ और हुसनलाल भगतराम जैसे संगीतकार, सामान्य लयबद्ध पैटर्न में राग काफी, पहाड़ी हीर के साथ 'मिर्ज़ा साहिबा' (1947), 'प्यार की जीत' (1948) में आते हैं।

सुरैया का सदाबहार गीत 'तेरे नैनों ने चोरी किया, मीना बाज़ार (1954), 'आंसू' (1950) और 'बड़ी बहनें' (1948) का चिरकालिक चुलबुला गीत 'चुप चुप खड़े हो ज़रूर कोई बात है' और जी. ए. चिश्ती, पंडित गोबिंदराम, श्याम सुंदर और हंसराज बहल जैसे संगीतकारों ने अपने स्वयं की विशिष्ट छाप अंकित करते हुए ये गीत रचे, (जैसे, 'साजन की गलियां छोड़ चली' ('बाज़ार', 1949) श्याम सुंदर द्वारा संगीतबद्ध)। बॉम्बे फिल्म उद्योग का यह वह दौर था जिसमें पंजाबी का प्रभाव दिखाई देना शुरू हो गया था।

ओ. पी. नैय्यर ने इस प्रवृत्ति को अपने 'टप्पा' की दुलकी चाल पर आधारित बीट और राग पीलू पर आधारित गीतों, 'नया दौर' (1957) और 'फागुन' (1958) जैसी फिल्मों के 'मांग के साथ तुम्हारा,' 'उड़े जब जब जुल्फ़ें तेरी,' 'पिया पिया लागे मोरा जिया' और 'एक परदेसी मेरा दिल ले गया' के ज़रिए जारी रखा और कई संगीतकारों ने जैसे ख़य्याम ('कभी कभी' और 'त्रिशूल'), शिव-हरी ('सिलसिला', 'लम्हें' आदि)। जतिन ललित ('दिलवाले दुल्हनिया ले जाएंगे') ने इसे अपनाया। इस संगीत का प्रभाव 1970 से लेकर यश चोपड़ा की पंजाबी माहौल वाली फिल्मों से आधुनिक संदर्भ वाले पंजाबी रुझान रखने वाले प्रवासी-भारतीय (एन.आर.आई) पंजाबी दर्शकों तक चला आ रहा है।

वसंत देसाई ने अपनी कई फिल्मों जैसे 'मतवाला शायर रामजोशी' (1947) के गीतों में जैसे 'भाई सावधान हो भंवर उड़ जाएगा' और 'देखो मोरी उमरिया है बाली' से लेकर 'मैं जागूं तू सो जा' ('दो आंखें बारह हाथ' (1957) में पावड़ा, लावणी और तमाशा जैसी मराठी लोकशैली का प्रयोग किया। खेमचंद प्रकाश और जमाल सेन 'भर्तहरी' (1947) और 'शोख़ियां' (1954) जैसी फिल्मों के ज़रिए राजस्थानी लोक का प्रभाव लाए जबकि 'नौशाद रतन' (1944), 'मेला' (1948), 'दुलारी' (1949), 'बैजू बावरा' (1952), 'मदर इंडिया' (1957), 'गंगा जमुना' (1961) 'संघर्ष' (1968) फिल्मों में अवध और पूर्वी उत्तर प्रदेश की लोक धुनें लेकर सुंदर और ज़मीन से जुड़े गीतों के साथ हिंदी फिल्म-संगीत पटल पर उभरे।

नौशाद को फिल्म-संगीत में कई तरह की नवीनता लाने का श्रेय दिया जाएगा, एक सौ-पीस ऑर्केस्ट्रा और फिल्म 'आन' के लिए पश्चिमी नोटेशन की एक पुस्तिका द्वारा किया गया प्रयास, 'शारदा' में बड़े-स्केल पर 'बीन' और 'डफ' का परिचय, फिल्म में आवाज़ और वाद्य-स्थान की रिकार्डिंग के लिए अलग साउंडट्रैक और फिर 'रतन' फिल्म में उनका मिक्षण करना और बांसुरी, क्लेरीनेट सितार और मंडोलिन जैसे वाद्ययंत्रों का संयोजन आदि। फिर भी, नौशाद ने शास्त्रीय संगीत के लोकआधार से लाभ लेते हुए जिस तरह इन दोनों के बीच के भेद को ख़त्म कर दिया वह उनका विशेष और उल्लेखनीय योगदान था। इस तरह शास्त्रीय रागों के आधार पर सरल, आकर्षक लोक-जैसी धुनें सामने आईं। यदि 'झूले में पवन के' और 'दूर कोई गाए धुन ये सुनाए' क्रमश: राग पीलू और देस पर आधारित थी। 'दु:ख भरे दिन बीते रे भैया' मेघ मल्हार की लोक-अभिव्यक्ति थी, 'दो हंसों का जोड़ा बिछड़ गयो रे' राग भैरवी और 'ढूंढो-ढूंढो रे साजना'

फिर से राग पीलू पर आधारित था। इसी ट्रेंड को समानांतर रूप से एस. एन. त्रिपाठी (ख़ासकर पूरबी लेकिन एस. एन. त्रिपाठी का झुकाव कभी-कभार राजस्थानी लोक-संगीत की तरफ़ भी रहा) और चित्रगुप्त द्वारा संगीतबद्ध किए गए गीतों में, ख़ासतौर पर लोक पर आधारित गीतों को मीठी सुगंध प्रदान की। उन्होंने शहनाई और मंडोलिन जैसे उपकरणों के अधिक प्रयोग के ज़रिए मध्यम वर्ग के रूढ़िवादी स्वामित्व और नैतिक अपेक्षाओं को पूरा करने का प्रयास किया। उनकी रचनाएं और उन्हीं की तरह के संगीतकार शिवराम और अविनाश व्यास (जो अपने काम में गुजराती पुट लाए थे, जिसे बाद में कल्याणजी-आनंदजी की जोड़ी ने 1968 में बनी 'सरस्वतीचंद्र' के गरबा पर आधारित गीत, 'मैं तो भूल चली बाबुल का देश' में प्रयोग किया) में एक ख़ास तरह के नृत्य के धड़कन की विशेषता थी लेकिन उनके गीतों में 'शृंगार' की अभिव्यक्ति हमेशा सम्मानित मापदंडों के अनुसार रही, जिसने छोटे शहरों और कस्बों के उन दर्शकों, जो पौराणिक और अति भावनात्मक सामाजिक फिल्मों के दर्शक थे कि संवेदनशीलताओं को कभी नाराज़ नहीं किया। 'फूल-बगिया में बुलबुल बोले' ('रानी रूपमती', 1959), 'ज़रा सामने तो आओ छलिए' ('जन्म जन्म के फेरे', 1957 जो बिनाका गीतमाला के वार्षिक चार्ट का सबसे हिट गीत था), 'जल भरी गगरी सा छलके जियरवा' ('कुंवारी', 1964), 'जय जय हे जगदंबे माता' ('गंगा की लहरें', 1964) 'चल उड़ जा रे पंछी के अब ये देश हुआ बेगाना' ('भाभी', 1957) 'करूं गौरी पूजन मैं तो तन मन से' ('वीर अर्जुन', 1952), 'तुम कहां छुपे ओ संवारे' ('श्रवण कुमार', 1960), कम बजट की फिल्मों के लिए रचे ये गीत 1970 तक हिंदी फिल्म संगीत के महत्वपूर्ण केंद्र बने रहे। (हमें सी. अर्जुन की फिल्म 'जय संतोषी मां' की विस्मयकारी लोकप्रियता को नहीं भूलना चाहिए)



आशा भोंसले के साथ रिकॉर्डिंग कराते हुए आर.डी. बर्मन

1947 में मिली आज़ादी उम्मीद, सपने और हर्ष के परिदृश्य को सामने लाई। और इस तरह प्राप्त आज़ादी के साथ एक नए संगीत के आने का मतलब था कि संगीत का स्वरूप भी गुलामी के बंधनों को तोड़ कर एक नए व्यक्तित्व के साथ उभर रहा था। स्वतंत्रता के बाद के दिनों में उच्च प्रोफ़ाइल और बड़ी बजट फिल्मों ने नई आशाओं और आकांक्षाओं के इस माहौल में युवाओं की संवेदनशीलताओं के अनुरूप देव आनंद, राज कपूर या गुरु दत्त ने युवाओं में नई स्फूर्ति भरी।

यह संगीत का दौर आधुनिक, लय-केंद्रित प्रवाह और तेज़ ऑर्केस्ट्रा अपील करता था जो 1940 के धीमी गति वाली धुनों के मापदंडों से खुद को मुक्त कर देता था और 'आवारा हूं' ('आवारा', 1951) और 'मेरा जूता है जापानी' ('श्री 420', 1955) जैसे गीत, जिनके साथ एक आम आदमी भी आसानी से जुड़ सकता था।

शंकर-जयकिशन ने पूर्वी यूरोप और मध्य पूर्व के प्रभाव को अपनी फिल्मों में उतारा, (उदाहरण के लिए, 'चोरी चोरी' और 'आवारा' जैसी फिल्म में) नए पैटर्न के साथ, नई ध्वनियों के साथ राज कपूर की मुख्य रूप से समाजवादी-रुझान वाली फिल्मों के लिए उन्होंने कई हिट गीत दिए।

उनके कई गीतों में राग भैरवी का सरल उपयोग हुआ, ('रमैया वस्तावैया' और 'आ अब लौट चलें' जैसे गीतों में) उन्होंने कोरस को नए और आक्रामक रूप में इस्तेमाल करते हुए जनता के झुकाव को रेखांकित कर उनकी नब्ज़ पर कब्ज़ा कर लिया फिर चाहे वह वाल्ट्ज पर आधारित गीत जैसे 'दिल की नज़र से' ('अनाड़ी'), 'दिल की गिरह खोल दो' ('रात और दिन') और 'अजीब दास्तां है ये' ('दिल अपना और प्रीत पराई') या फिल्म 'बसंत बहार' और 'आम्रपाली' में शास्त्रीय संगीत पर आधारित गीत हो, 'तीसरी क़सम' के लोक-रंग वाले गीतों से लेकर 'संगम' और 'मेरा नाम जोकर' फिल्म के शहरी अभिव्यक्ति वाले गीत हों, शंकर-जयकिशन ने हमेशा अपनी बहुमुखी प्रतिभा का प्रदर्शन किया है।

उसी समय, एस. डी. बर्मन आधुनिक मुहावरों और लयबद्ध तालों (उदाहरण के तौर पर, 'जानी तुम तो डोले गया दासी के', 'मोरा गोरा रंग लेले') में ख़ास तरह का नया, परस्पर संवादात्मक, कभी-कभी गहन और कभी गुप्त, अभिव्यक्तिपूर्ण तरह से (भटियाली, जत्र और बंगाल की सारी और उत्तर-पूर्व भारत से गोवा की लोक धुनों) लोक-प्रभाव दिखाई देता है। (जो स्वतंत्रता के बाद युवा बोहेमियन और फ़ैशन की रोमांटिक छवि के साथ-साथ उदाहरण के रूप में देव आनंद की तरह बहुत अधिक मुक्त, उदार और आनंददायक तरह से रोमांस करता है और जो कानून और अपराध को एक अलग दृष्टिकोण के साथ भी देखता है)। इस तरह उन्होंने 'ये रात ये चांदनी फिर कहां' ('जाल', 1952), 'छोड़ दो आंचल ज़माना क्या कहेगा' ('पेइंग गेस्ट', 1957), 'अच्छा जी मैं हारी चलो मान जाओ ना', ('काला पानी', 1958), 'माना जनाब ने पुकारा नहीं' ('पेइंग गेस्ट', 1957) और कई अन्य हिट गीत दिए। जिन युगल गीतों को एस. डी. बर्मन ने संगीतबद्ध किया उनमें प्रकृति और रोमांस, एक अपरिपक्व, निराशाजनक तरीके से एक साथ बढ़ता है और उन्होंने एक बदलते हुए स्वतंत्र भारत में संगीत की एक नई शैली तैयार की जिसमें बड़े पैमाने पर हो रहे शहरी प्रवासन और परंपरागत रूढ़ियों के बीच खिंचावों के परिणामस्वरूप परिवार और समाज के कमज़ोर पड़ने की छवि दिखाई दे रही थी। बर्मन के गीत, रागों पर आधारित होते थे लेकिन उनका अनुक्रम अक्सर कोड्स पर विकसित किया जाता था। शायद यही कारण था उनके गीत इतने ताज़ा और आधुनिक लगते थे। जैसा कि पहले बताया गया है, ओ. पी. नय्यर द्वारा संगीतबद्ध किए गीतों जैसे 'ऐ दिल है मुश्किल जीना यहां' ('सी.आई. डी') और 'बाबूजी धीरे चलना' ('आर पार', 1954) की फ़ेहरिस्त में न केवल पंजाबी लोक धड़कन शामिल थी, बल्कि पश्चिमी से ली गई ज़िंदादिल प्रेरणा का संयोजन भी शामिल थी और 1950 और 1960 के दशक में हिंदी फिल्म संगीत में लय की एक रोलिंग 'रूंबा' शैली को एक गीत-शैली के रूप में स्थापित किया। फिल्म 'संसार' में 1950 के अंत में ख़ास कर शम्मी कपूर और देव मुखर्जी जैसे नए सितारों की फिल्मों में रॉक एंड रोल प्रेरित गीत भी काफ़ी संख्या में रचे गए।

सलिल चौधरी ने विशाल कोरल गीतों पर अपने अभिनव प्रयासों के ज़रिए खुद का एक स्टाइल बनाया जिसमें एक सिम्फ़नी जैसी सेटिंग, स्केल में कठिन परिवर्तन और हार्मोनिक के प्रवाह को एक साथ जोड़ा। उन्होंने इन सबका इस्तेमाल अपने, 'मास' गीतों में साम्राज्यवाद और भारतीय समाज में हो रहे सामाजिक और आर्थिक शोषण के ख़िलाफ़

किया। (इस प्रकार संगीत के क्षेत्र में एक नई सर्वहारा परिभाषा को एक कला के रूप में प्रस्तुत और समुदाय के रक्त, मस्तिष्क और संघर्ष के रूप में संगीत को स्थापित किया। सलिल के लिए संगीत-कला के लिए कला की अभिजात्यवादी सीमाओं के भीतर ही नहीं, बल्कि आम लोगों के संघर्ष और आकांक्षाओं के भीतर स्थित था)। इप्टा द्वारा अपनाया गया गीत, 'हरियाला सावन ढोल बजाता आया' ('दो बीघा ज़मीन', 1953, 'जाने वाले सिपाही से पूछो वो कहां जा रहा है', ('उसने कहा था', 1960) और 'वो दुनिया बदल दे जिस दुनिया में बच्चों की मुस्कान नहीं' ('जानवर', 1960)। उन्होंने अपने बाद के अधिक शिष्ट और जटिल चरण के दौरान बड़ी कोरल रचनाओं का प्रयोग किया जैसे 'ज़िंदगी कैसी है पहेली' ('आनंद', 1970) और चोपिन से प्रेरित और शानदार गीत जैसे 'रातों के साए घने' ('अन्नदाता', 1972)। सलिल इस बात को बेहद महत्वपूर्ण मानते थे कि बंगाली संगीत को संकीर्ण सीमाओं में बांधना नहीं चाहिए और उनका मानना था कि संगीत अंतरराष्ट्रीय होना चाहिए। इसीलिए हम उनके संगीत में दुनियाभर के संगीत का प्रभाव देखते हैं जबकि माइनर में मोज़ार्ट के सिंफ़नी नं. 40 का प्रयोग 'इतना ना मुझसे प्यार बढ़ा' ('छाया') में किया गया, 'ऐ मेरे प्यारे वतन', ('काबुलीवाला') अफ़ग़ान के लोकगीत पर आधारित है और 'मधुमती' के गीत कुमाऊं के लोकगीतों पर, शुद्ध जैज़ पर आधारित गीत, 'बाग़ में कली खिली,' 'मेरे मन के दिए' ('परख') पूरी तरह चर्च क्वायर पर बनाया गया था और रेड आर्मी के मार्चिंग गीत से प्रभावित होकर वे 'धरती कहे पुकार के' गीत को सामने लाए। उनके कई गीतों में तेज़ तालबद्ध लहर की तरह का हुनर सामने आता है जैसे 'हौले-हौले चलो मोरे साजना', 'रिमझिम गिरे सावन' आदि। सलिल का संगीत अक्सर लीक से हटकर होता था (हालांकि दूसरे स्टाइल में 1940 और 1950 में दुर्जय सज्जाद हुसैन ने लीक से हटकर भी 'दोस्ती', 'सैंया' और 'संगदिल' फिल्मों में बहुत से गीत रचे)। गीतों का पारंपरिक मीटर, अक्सर उल्लेखनीय नवोन्मेष के साथ टूट जाता था जैसे फिल्म 'आनंद' के गीत में किया गया।

हालांकि, इस आधुनिक प्रवृत्ति के साथ-साथ, 1950 और 1960 के दशक में कई फिल्मों के बहुत से गाने शुद्ध शास्त्रीय रागों पर आधारित थे और कभी-कभी मुर्किस, तान और तरानों की पूरी श्रृंखला उनमें समाई थी। इनमें से कुछ फिल्में ऐतिहासिक और पुराने ज़माने की फिल्में थीं और लगभग सभी निश्चित रूप से संगीत के लिए समर्पित रहीं जबकि 'नौशाद', 'शबाब' (1954) में आमिर खान और बड़े गुलाम अली खान द्वारा 'मुग़ल-ए-आज़म' (1960) में गाए गीत के साथ आए, शंकर-जयकिशन ने फिल्म 'बसंत बहार' (1956) में राग बसंत बहार आधारित रचना 'केतकी गुलाब जूही' में मन्ना डे के साथ भीमसेन जोशी को लिया। वसंत देसाई की 'झनक झनक पायल बाजे' (1955) और 'राम राज्य' (1967) का एस. एन. त्रिपाठी की 'कवि कालिदास' (1959), 'रूपमती' (1959) और 'संगीत सम्राट तानसेन' (1961) के साथ मिलान किया जा सकता है। वसंत देसाई पहले राग मल्हार को विविध रूपों में प्रयोग करते थे, बाद में वे जोगिया और झिंझोटी जैसे कम लोकप्रिय रागों का प्रयोग करने वाले संगीतकार कहलाए।

हिंदी फिल्म जगत का 1950 के संगीत का दौर 1960 के आते-आते बहुत ही सरल हो गया। और फिर एल पी रिकॉर्ड के आ जाने से संगीतकारों को समय-समय पर समय संयम से मुक्ति मिल गई ताकि वे अपनी रचनात्मकता को अधिक विस्तृत तरीके से मधुर संगीत में अधिक प्रयोग के साथ खोज सकें। मदन मोहन जैसे संगीतकार ने 'ग़ज़ल सम्राट' का ख़िताब जीत लिया जबकि जो जगह गुलाम मोहम्मद मिर्ज़ा ग़ालिब की स्वछंद ग़ज़लें और 'पाकीज़ा' के उत्तम गाने गाकर भी हासिल नहीं कर पाए थे), राइस खान के सितारों से सजे प्यारे गानों के साथ लताजी के रत्नों के स्कोर बढ़ाते रहे जैसे कि 'वो चुप रहें तो मेरे दिल के दाग़ जलते हैं।' ('जहां आरा' 1964), 'आपकी नज़रों ने समझा प्यार के क़ाबिल मुझे' ('अनपढ़', 1962) और 'अगर मुझसे मोहब्बत है मुझे अपने सब ग़म दे दो', ('आपकी परछाइयां', 1964)। अपने लोकप्रिय सहयोगियों की तरह, मदन मोहन जनता के संगीतकार नहीं थे वे ग़ज़लों की बारीकियों को समझने वाले समझदार और गहन विचारशील श्रोताओं के संगीतकार थे।

वास्तव में फिल्मों में उर्दू कविता की तरह 'मुशायरे' में संगीतमय अभिव्यक्ति 1950 के नए दौर में भी कायम रही। यद्यपि एक विविध और ज्यादा सामाजिक सामग्री के साथ वास्तव में 1950 में संगीत की नई लहर के साथ भी फिल्मों में उर्दू कविता की तरह मुशायरे की संगीतमय अभिव्यक्ति कायम रही हालांकि एक परिवर्तित और ज्यादा से ज्यादा सामाजिक मुद्दों के साथ, और 1950 और 1960 का फिल्म संगीत एक अलग शैली के रूप में बाहर आया जब साहिर लुधियानवी, कैफ़ी आज़मी, नीरज इत्यादि गीतकारों द्वारा लिखे गीतों को नाज़ुक धुनें देने के लिए रोशन, ख़ैयाम, रवि, एन दत्ता और सी अर्जुन आम तौर पर राग यमन कल्याण और पहाड़ी का इस्तेमाल किया (यह बात भी काबिले ग़ौर है कि इनमें से कुछ लेखक उन्हीं दिनों चल रहे प्रगतिशील लेखक आंदोलन में भी सक्रिय थे।) 'फिर सुबह होगी' (1958) में ख़य्याम के 'चाइनो अरब हमारा' के गानों में समाजवादी रंगत थी। रोशन का संगीत 'नई उम्र की नई फ़सल' (1961) के गीत 'आज की रात बड़ी शोख़ बड़ी नटखट है' और एन दत्ता का संगीत 'धर्मपुत्र' के गाने भूल सकता है भला कौन ये प्यारी आंखें' में बड़ा दिली और जुनूनी रोमांटिक था (और यह जे पी कौशिक के 'मैं आहें भर नहीं सकता' 'आसमान महल', 1965 और सी. अर्जुन की 'ग़म की अंधेरी रात में' ('सुशीला' 1966) या फिर रवि की 'बहू बेटी' 1965 की 'जियो तो ऐसे जियो जैसे सब तुम्हारा है' और 'गुमराह', 1963 का 'चलो एक बार फिर से अजनबी बन जाएं हम दोनों।'

उन्हीं वर्षों में संगीत के रूप में कव्वाली की भी बहुत लोकप्रियता रही। ख़ासकर रोशन की 'बरसात की रात' 1960) की कव्वाली 'ये इश्क इश्क है इश्क इश्क' की असाधारण सफलता के उन्हीं दिनों रोशन की योग्यता सर चढ़ कर बोल रही थी और 'निगाहें मिलाने को जी चाहता है', ('दिल ही तो है', 1963) जैसी प्रसिद्ध रचना और 'वाकिफ़ हूं खूब इश्क के तर्ज़ बयां से मैं' ('बहू बेगम', 1967) इत्यादि की सफलता के बाद हिंदी फिल्मों में कव्वालियों को भी विशेष स्थान मिला। यही दौर 1970 तक चला (हालांकि गुणवत्ता में कुछ कमी ज़रूर आई), 'झूम बराबर झूम शराबी' ('5 राइफ़ल्स', 1974), 'राज़ को राज़ रहने दो' ('धर्म', 1973), और 'पर्दा है पर्दा' ('अमर अकबर एंथोनी', 1974) लोकप्रिय रही।

इस तरह फिल्मी गानों में सितार के प्रयोग में महारत हासिल करने वाले केवल मदन मोहन ही नहीं थे, रोशन ने भी अपने लोक आधारित गानों में बांसुरी का प्रयोग किया, उन्होंने 'ममता' फिल्म में सारंगी का बहुआयामी प्रयोग किया और ओ.पी. नय्यर ने बांसुरी और शहनाई एवं सारंगी और गिटार का प्रयोग किया, वह दौर ऐसा चल निकला जहां फिल्मों में गीतों के साथ-साथ नयापन लिए ऑर्केस्ट्रा का प्रयोग जरूरी हो गया था। 1960 के अंत में शंकर-जयकिशन (जिन्होंने 'जैज़ में राग' नामक एक एल्बम भी निकाला) के नेतृत्व में हिंदी फिल्म संगीत में जैज़ भी प्रवेश कर गया था, इससे संगीत में कोलाहल और शोर-शराबा बढ़ गया था। हालांकि, उन वर्षों में जब नेहरू युग की उम्मीदें और आकांक्षाएं भ्रम और अलगाव की भावना में बदल रही थीं (शायद उसका सबसे अच्छा उदाहरण हेमंत कुमार के

गाने 'बस एक चुप सी लगी है', 'तुम्हारा इंतज़ार है' और 'वो शाम कुछ अजीब थी' 'सन्नाटा' (1966) और 'ख़ामोशी' (1969), हेमंत द्वारा रचित धड़कते और विविधता वाले 1950 के गीतों के विपरीत इन जैज़ आधारित गीतों में कट्टरपंथी समाजशास्त्रीय चेतना कतई नहीं थी, पश्चिम में जैज़ उच्च-कोटि के संगीत का नमूना था, जबकि हिंदी फिल्मों द्वारा प्रयुक्त जैज़ की संगीत शैली में पीतल के बैंड को अपनाकर तेज़ शोर-शराबा पैदा कर 'लो आई है जवानी रूप के नग़मे गाती' ('पहचान', 1970) जैसे गाने बने जिन में शोर-शराबे और तेज़ आवाज़ का समावेश भर था। हालांकि, जल्द ही दुनिया के कई हिस्सों में हालातों को बदलने की ग़रज़ से नक्सलबाड़ी जैसे कई कट्टरपंथी युवा आंदोलन हुए और मौजूदा तौर-तरीकों से नाराज़गी के कारण, अपरंपरागत व्यवहार शैलियों और पलायनवादी रूपों जैसे एल.एस. डी. आधारित 'हिप्पी' संस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ। 1970 में आज़ादी के बाद पैदा हुए नए युवाओं के स्वाद और संवेदनशीलताओं को पूरा करने के लिए हिंदी फिल्मी संगीत कई नए वाक्य-विन्यास और अलंकरणों को लेकर उभरा। संगीतकार आर. डी. बर्मन नए दर्शकों के प्रतीक के रूप में उभरे जिन्होंने लैटिन बोसा नोवा का उपयोग कर उन्हें 'मार डालेगा दर्दे जिगर' ('पति पत्नी', 1969) जैसे मुग्ध करने वाले गीत दिए (बर्मनजी ने इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों, दोगुना-रफ़्तार वाली लय और तीव्र एम्पलीफ़िकेशन का उपयोग कर बहुत सुंदर संगीत रचा और यह साबित कर दिया कि शोर-शराबा रचनात्मक भी हो सकता है (जो मानस के अंदरूनी मनोविज्ञान में प्रवेश कर सकता है और उन्होंने दर्शकों को 'दम मारो दम' ('हरे रमा हरे कृष्णा', 1971) के 'हिप्पी' तारों पर झूला सकता है (या 'जाने जा ढूंढता फिर रहा' ('जवानी दीवानी', 1972) के भावपूर्ण स्तर तक ला सकता है (और बर्मनजी के नवीनीकरण का मतलब 'ओ माझी' ('बंधे हाथ', 1973) जैस भटिआली बोली के गीत को आधुनिक मनोरंजन में बदलना था।

उनके द्वारा इलेक्ट्रॉनिक रूप से परिष्कृत किए गए मधुर सुर नए हिंदी फिल्म गीत के तकिया कलाम बन गए।

यह नैतिक मानकों और पुराने मूल्यों को तिलांजलि देकर पनपी संगीत की एक नई शैली थी। आर.डी. बर्मन के संगीत में आधुनिकीकरण और शहरीकरण अलगाव का कारण नहीं बनते, बल्कि उसमें एक परेशान और उत्तेजनात्मक भावना उभरती है और 'दुनिया में लोगों को धोखा कभी हो जाता है' जैस गीत उभरते हैं। बर्मन ने रात को रहस्यमय आवाज़ों को पकड़ उभरते भारतीय मेट्रो पर कई गाने बनाए। 'जब अंधेरा होता है', आधी रात के बाद', 'मैं एक चोर तू मेरी रानी' और 'फिर वही रात है' जैसे गाने संक्षेप में बढ़ते शहरी भारत के आधुनिक शहरी रातों की ज़िंदगी का उदाहरण देते हैं। बर्मन के संगीत ने 'यादों की बारात', 'कारवां', 'जवानी दीवानी', 'खेल-खेल में', 'हम किसी से कम नहीं', 'अजनबी' आदि फिल्मों के गीतों के माध्यम से नए शहरी युवाओं को आनंदित किया जो बहुत ज्यादा स्वच्छंद और पारंपरिक मूल्य आधारित भावनाओं से मुक्त थे, जिन्होंने आदर्शवादिता को सिरे से ख़ारिज कर दिया था और वे कामुक और रोमांचक हो चले थे। 'चरित्रहीन', 'कारवां', 'कटी पतंग', 'मेरे जीवन साथी' और इसी तरह की कई फिल्मों के सिर्फ़ मनोरंजन करने वाले गीत पनप रहे थे। इस नए स्वच्छंद युग में, बर्मन अत्यधिक प्रयोगात्मक और रचनात्मक हो गए। 'खुशबू' फिल्म के गीत 'ओ मांझी रे' में उन्होंने सोडा-वाटर की बोतल में फूंक मार कर संगीत उत्पन्न किया।

हालांकि उनके कई गीतों को चोरी किया हुआ या दूसरों से प्रेरित बताया गया था, लेकिन उन्होंने कभी भी अपने संगीत के सुरीले पहलू को नहीं छोड़ा- यही एक वजह थी कि वे गुलज़ार और ऋषिकेश मुखर्जी जैसे लीक से हट कर गुणवत्ता वाले फिल्म निर्माताओं के चहेते संगीतकार थे। नई उपमाओं और गुलज़ार के रूपकों को लिए, उनका संगीत अक्सर कविता के बहुत करीब आता है। वे गुलज़ार की 'मेरा कुछ सामान' ('इजाज़त') की कविता की तरह आपसी बातचीत से भी मधुर गीत बना सकते थे। हालांकि, यह धुनपूर्ण पहलू 1950 और 1960 के दशकों के संगीत की तरह नहीं था- वह पुराने पैटर्न के अनुरूप नहीं था बल्कि नई उम्र के आत्मविश्लेषी आधार पर नई उम्र द्वारा पूछे जाने वाले सवालों के अनुरूप था।

कुछ अपवादों जैसे 'उमराव जान', 'उत्सव' और कुछ कलात्मक और लीक से हट कर बनी फिल्मों 'अर्थ', 'साथ-साथ', 'नमकीन' आदि के संगीत जैसे कुछ अपवाद के बावजूद 1980 के दशक के फिल्म-संगीत की मुख्य प्रवृत्ति मेटल, डिस्को और रॉक पर हावी थी। सबसे बढ़िया उदाहरण बप्पी लहरी के गीत 'हरि हरि' ('प्यारा दुश्मन', 1980), 'रंभा हो' ('अरमान' 1981) और 'डिस्को डांसर' (1982) के गीत हैं जो अपनी आकर्षक बीट्स के कारण तुरंत और आकर्षक रूप से अपील तो करते हैं मगर कोई स्थायी प्रभाव नहीं छोड़ते कुछ समय वीडियो कैसेट उद्योग ने इससे काफ़ी मुनाफ़ा कमाया, इसका आश्य यह था कि केवल निम्न-मध्य वर्ग और निम्न वर्ग जो वीडियो प्लेयर ख़रीद पाता था केवल वही सिनेमाघर जाया करता था। और माना यह गया कि ऐसे दर्शक सेक्स, लड़ाई और कमज़ोर नृत्य और गीतों जिनमें भावनाओं और संवेदनशीलता के गहरी धुनों के स्पर्श की कोई ज़रूरत नहीं होती कि 'मसाले' से संतुष्ट हो सकते हैं। हिंदी सिनेमा की मुख्यधारा के संगीत के स्तर में गिरावट के कारण कुछ हद तक ग़ैर-फिल्मी ग़ज़ल की तरफ़ मोड़ दिया, जिसने बिना किसी संदेह के लोकप्रियता प्राप्त की क्योंकि फिल्मों से प्रतिस्पर्धा खत्म हो चुकी थी। वास्तव में 1980 के दशक का बेहतरीन फिल्म संगीत लीक से हट कर और कलात्मक फिल्मों जैसे 'मंडी' और 'तरंग' (जिसमें रघुवीर सहाय की कविता 'संग सो जो' को मांड, जोगिया और भीमपलासी द्वारा संगीतबद्ध किया गया था) अजित वर्मन की 'वास्ता' (जहां 'मां बोलो कब तलक यूं ही जलना है' शायद सबसे बढ़िया रचना थी, जिसे भटियाली में संगीतबद्ध किया गया था हालांकि यह कम प्रसिद्ध हुई) के संगीत-निर्देशक वनराज प्यारेलाल ने 'उत्सव', बर्मन ने 'नमकीन', जगजीत सिंह ने 'अर्थ' और कम नोटिस की गई फिल्म 'कालका', कुलदीप सिंह ने 'साथ-साथ', उस्ताद दिलवर खान ने 'आश्रय', जयदेव ने 'अनकही' और 'जुम्बिश' में संगीत दिया।

1990 के दशक को फिल्म संगीत में मधुरता की वापसी के वर्ष के रूप में देखा जाता है, जिसकी शुरुआत नदीम-श्रवण ने 'आशिकी' (1990) से की। लेकिन अब संदर्भ दूसरा था और मुक्त अर्थव्यवस्था और बढ़ते वैश्वीकरण के दौर में हिंदी फिल्म संगीत को अब मधुरता के पुराने रूप और बनावट के मापदंडों द्वारा परिभाषित न करके एक व्यापक पारिस्थितिकीय चरित्र के मद्देनज़र देखा जा रहा था। पिछले दशक में हुई संचार-क्रांति ने इस बात को सुनिश्चित किया है कि दुनियाभर से संगीत अब इंटरनेट पर आसानी से उपलब्ध है और इसका उपयोग, रीमिक्स और पुनः उपयोग करने के लिए संगीत डिजिटल रूप से संग्रहीत किया जा सकता है। रिहर्सल और बड़े ऑर्केस्ट्रा के दिन अब लद गए हैं, फिल्म संगीत अब विज्ञापन और आक्रामक प्रचार के युग में गैजेट की तकनीक की सहायता से एक सस्ती वस्तु बन गई है, एक घटिया गीत भी आकर्षक रूप से पैक कर बेचा जाता है, टीवी चैनलों पर बार-बार दिखाया जाता है और तुरंत लाभ के लिए, जनता के लिए सुलभ बना दिया जाता है। आज संगीत ऑडियो की बजाय मनोरंजन का एक विजुअल माध्यम ज्यादा है। तेजी से अपने विकसित होती दुनिया में विजुअल इंटरैक्शन के ज़रिए थोड़े ही समय के दौरान दर्शकों का ध्यान

पृष्ठ 28 पर जारी....

चित्रपट : सहोदर-कलाओं की भूमिका

प्रताप सिंह



जन्म : 10 अक्तूबर, 1949 (दिल्ली)। सिनेमा-संस्कृति, साहित्य एवं अन्य कलाओं में अभिरुचि। पहला कविता-संग्रह 'अक्षर' के लिए हिंदी अकादमी सम्मान। सिनेमा की पुस्तक 'सिनेमा का जादुई सफ़र' प्रकाशित। पत्रिका 'युग-स्पंदन' के समकालीन विशेषांक का संपादन।

मशहूर फिल्मकार गोदार ने सिनेमा को 'कलाओं की कला' कहा है। समूची अवधारणा, संकल्पना इसी रस-रंजक केंद्रीय चेतना पर टिकी है। ज़ाहिर है सिनेमा की मायावी अंतर्वस्तु, फलक और ओर-छोर का स्पर्श अवचेतन में इन कलाओं के माध्यम से ही होगा। पर यह इतना आसान नहीं। वस्तुत: भारतीय सिनेमा की अंतरधाराओं का परिचय इसकी बहुलता-विविधता की परतों में सिलसिलेवार प्रवेश से ही संभव है। सिनेमाघर, दर्शक जगत के लिए उसके 'प्रवेश द्वार' रहे हैं। चित्रपट की गुणवत्ता, विपन्नता और विशिष्ट प्रवृत्तियों से भी वहीं साबक़ा पड़ता है। सिनेमा की क्लासिकी, अदाकारों, अहम किरदारों और नूतन-पुरातन तकनीक-यांत्रिकी से वहीं परिचय होता है।

इसकी विस्तृत और विस्मित करने वाली भूमिका अपना परदा खुद उठाती है। पारसी थिएटर और फिल्म कंपनियां इसकी प्रथम धरोहर हैं। मौसीक़ी उसकी आत्मा है। यह महारूपक एक प्रति-संसार है जो हमारी कल, आज और कल की ज़िंदगी का सच्चा आईना और प्रतिबिंब साबित हुआ है।



गीत और गायिकी : मोहम्मद रफ़ी, लता मंगेशकर और मजरूह सुल्तानपुरी

पहले-पहल बेशक न्यू थिएटर, रंजीत मूवीटोन, इंपीरियल मूवीटोन, मदान थिएटर्स, बांबे टाकीज़ कोहिनूर ओरिएंटल, हिमालय टाकीज़, स्टूडियो-नटराज', कोल्हापुर सिनेटोन, महाराष्ट्र फिल्म कंपनी, प्रभात फिल्म कंपनी, मिनर्वा पिक्चर्स, राजकमल और उत्तर काल में राजश्री प्रा. लिमिटेड से यशराज बैनर तक का बोलबाला है लेकिन फ़्लेकस में हमेशा हर नए दौर का प्रयोगशील सिनेमा ही रहा है। 1913 से 1934 तक मूक फिल्मों के दौर में ही संभवत: 1930 में परदे की 'छवि' (Shadow) के साथ 'ध्वनि' Sound को जोड़ने के सफल प्रयोग हुए। 'राजा हरिश्चंद्र' से शुरू हुई यह यात्रा इंपीरियल कंपनी की 'आलमआरा' और 'शीरी फ़रहाद' (1931) जैसी सवाक फिल्मों का श्रीगणेश साबित हुई। उस युग के उज्ज्वल हस्ताक्षरों में- अर्देशिर ईरानी (निर्देशक), आग़ा हश्र कश्मीरी (गीतकार, लेखक, नाटककार, संवाद-लेखक) और अदाकारों में मास्टर विट्ठल, ज़ुबैदा, कज्जन, क़य्यूम गौहर, बिल्मोरिया नामी-गिरामी रहे। गौहर, ज़ुबैदा से भी ज्यादा प्रसिद्धि पाने वाली ऐसी एक्ट्रेस मानी गईं जिसने पहली सवाक फिल्म 'शीरी फ़रहाद' और चंदूलाल शाह निर्देशित 'देवी देवयानी' में खूब धूम मचाई।

'देवी देवयानी' पारसी युग के दूसरे नाटककार नारायण प्रसाद 'बेताब' की क़लम (लेखनी) और झंडेखान के संगीत से सजी फिल्म है। 'साउंड प्रॉजेक्टर' और टॉकी-प्रॉजेक्टर' के तिलिस्म से टॉकी- थिएटर का जादू खड़ा करने वाले अर्देशिर ईरानी की फिल्म 'आलमआरा' ने उस दौर में सात गानों का प्रथम रिकार्ड बनाया जो अगले ही साल 'इंद्रसभा' फिल्म ने तोड़ दिया। सैयद आग़ा हसन अमानत के नाटक पर बनी इस फिल्म में 69 गीत हैं। वह भी पार्श्व-गायन के शुरू होने से पहले के दौर में ही। ऐसा दूसरा काव्य-नाटक परदे पर एकमात्र फिल्म 'हीर-रांझा' (चेतन आनंद निर्देशित) ही रही। 'इंद्रसभा' की जोड़ी जहां आरा, कज्जन और मास्टर निसार की रसीली जुबान पर इसका एक गीत 'क्या तड़पने का मज़ा जब दिलरूबा पर्दे में हो..' खूब सराहा गया।

किंचित, 'आलमआरा' फिर भी वह विस्मयी फिल्म साबित हुई जिसके गानों में-'दे दे खुदा के नाम पर प्यारे... ताकत हो गर देने की' गाने वाले वज़ीर मोहम्मद खान हमारे बायस्कोप के प्रथम गायक हैं। युगीन फिल्मकारों की कई पीढ़ियां भी ऐसे ही पल्लवित हुईं। दादा फाल्के, सावे दादा, बाबू राव पेंटर के बाद का ज़माना नई सोच, नई दिशाओं का ज़माना भी साबित हुआ। वी. शांताराम, सत्यजीत राय, महबूब, भगवान दादा, किशोर साहू, गुरुदत्त, राजकपूर, किशोर कुमार के बाद तो यह नई सोच श्याम बेनेगल, मणि कौल, कुमार शाहनी, कमल हसन, अनुराग कश्यप, नीरज पांडेय, आनंद गांधी, ज़ोया अख़्तर, करण जौहर, आमिर खान, नंदिता दास जैसे आधुनिक फिल्मकारों की प्रतिभा के विस्फोट से आज समूचे सिनेमा का ककहरा ही बदल चुका है। इतना ही नहीं, हिंदी पट्टी के बाहर मराठी, कन्नड़, मलयाली और बांग्ला सिनेमा भी अपनी सीमाओं की क़ैद से मुक्त हो चुका है। समूचे चित्रपट की हिंदुस्तानी ज़मीन का यह 'दृश्य-खेल' (Phenomenon) अपनी 'यूनिवर्सल-पैठ' बना चुका है। नई पटकथाओं में समाए नायक-नायिकाएं, चरित्र-अभिनेता, सिनेमा

संपर्क : पत्रकार परिसर, फ़्लैट नं 220, जी.एच-2, सेक्टर-5, वसुंधरा, ग़ाज़ियाबाद-201012 मो 9717749114



सुर की बंदिश : भूपेन हजारिका, लता और किशोर

की नाट्य-शैलियां, गीत-संगीत के प्रायोगिक, आंचलिक एवं पश्चिमी चलन, स्क्रीन-प्ले को केंद्र में रखते नए रूपांतरण अब आकर्षण का केंद्र बने हुए हैं।

बदलते समाज की मनोभूमियों ने सिनेमा की धुरी को बदल, 'शहर' और 'महानगरों' की दुनिया को पूरा स्पेस देकर 'मेट्रो-क्लचर' और बॉलीवुड' को ही उसका पैमाना बना दिया है। फिर भी भारतीय आंचलिकता के बिरवे बचे रहे हैं। मसलन 'दो बीघा ज़मीन', 'मदर इंडिया', 'तीसरी क़सम', 'उसकी रोटी', 'दुविधा', 'मंथन', 'मिर्च'-मसाला', 'पार', 'दामुल' के बाद 'अन्ने घोड़े का दान' (गुरविन्दर सिंह निर्देशित), 'पीपली लाइव' और 'न्यूटन' जैसी सिने-कृतियां यथार्थ की कड़ी ज़मीन पर अंकुरित होती हैं और अपनी अलग पहचान कायम रखती हैं।

उधर, 'साहूकारी पाश' और 'चोमन डुडी की-खांटी-खरी परंपरा तो आज भी मराठी, कन्नड़, मलयाली, असमी और ओड़िया फिल्मों तक के लिबास और मानस-गंध में निरंतर महसूस की जा सकती है। कन्नड़ और मलयाली फिल्में बहुतायत में आज भी आंचलिक ही हैं। ज्यादातर अपने अंचल के परिवेश तक सीमित रहने के कारण। संपन्न प्रादेशिक-सिनेमा के कर्णधारों में ऋत्विक घटक, मृणाल सेन, सत्यजीत राय, गौतम घोष, ऋतुपर्णो घोष, अपर्णा सेन, असित सेन ही नहीं, धुर आंचलिक-पट्टी के सिने-सिपहसालारों में अड्र गोपाल कृष्णन, कासरवल्ली, बालाचंद्रन, जी. अरविंदन, शाजी एन. करूण, मणिरत्नम, टी. वी. चंद्रन, राघवन, भारती राजा, श्यामा प्रसाद, अरुण नलावड़े, अमोल पालेकर, जब्बार पटेल, चित्रा पालेकर, संदीप सावंत, सुधीर कुलकर्णी और परेश मोकाशी तक नामचीन हो चुके हैं। इनकी सिने-कृतियों में जज़्बात, दृष्टि और त्रासद-समाज का अंकन ही उन्हें क्लासिकी का दर्जा हासिल करता है। 'पाथरे पांचाली' से 'घट-श्राद्ध' और 'श्वास' तक का इतिहास आज भी प्रासंगिक है और सार्वकालिक भी। इसी वलय में शामिल कालजयी फिल्मों में 'महानगर', ' जलसाघर', 'भुवनशोम', 'मृगया', 'ख़ारिज', 'अकालेर संधाने', 'खंडहर', 'यात्रा', 'पतंग', 'मोनेर मानुष, चोखेर बाली', '36 चौरंगी लेन', 'परोमा', 'काबुलीवाला' की तरह ही 'चिदम्बरम', 'कंचन-सीता', 'वास्तुहारा', 'संस्कार', 'एलीपतायाम', 'मुखामुखम', 'स्वयंवरम', 'पीरावी', 'हसीना', 'गुलाबी-टाकिज', 'वेलू नायगन', 'रावणमी', 'मागमि', 'उम्बटी', 'हरिश्चंद्राची फैक्ट्री', 'लालबाग पटेल' और 'सिंधुताई सपकाल' भी एकसाथ पारंपरिक-दृष्टि और नवयथार्थवाद का प्रतिनिधित्व करती हैं। क्लासिकी को लेकर इनमें कोई-(Taboo)(निषेध/वर्जना) नहीं है। यानी अच्छा और स्तरीय सिनेमा कहीं भी उपज सकता है। किसी भी दौर और परिस्थिति में! तमाम वर्जनाओं के रहते वह अपने को सिद्ध कर सकता है। उसके पुरातन-अधुनातन दृष्टांत (खुद में) एक विलक्षण-असाधारणता को साधारण-जीवन की सिने-कथाओं में गूंथ चुके हैं। रेखांकित कर चुके हैं। 'नवरंग', 'दुनिया न माने', 'दो आंखें बारह हाथ', 'औरत', 'रोटी', 'मिस्टर सम्पत', 'बैजू बावरा', 'महल', 'मधुमती', 'जागते रहो', 'आवारा', 'देवदास', 'प्यासा', 'काग़ज़ के फूल', 'चौहदवीं का चांद', 'मुग़ले आज़म', 'साहेब बीवी और गुलाम', 'बन्दिनी', 'सत्यकाम', 'ख़ामोशी', 'गाइड', 'आनंद', 'गरम हवा', 'सत्या', 'सद्गति', 'अंकुर', 'भूमिका', 'तरंग के ठीक बाद के सिने-युग में थीम, जीवन-मूल्य और हमारे सरोकार 'राजनीति', 'धर्म', 'भ्रष्ट-तंत्र', 'से और ज्यादा प्रभावित हुए हैं। नतीजतन 'ब्लैक', 'मिथ्या', 'शून्य', 'ब्लैक फ्राईडे', 'चक दे इंडिया', 'खोसला का घोंसला', 'आई एम-24', ' ए वेंडनसडे', 'रंग दे बसंती' और 'नो वन किल्ड जेसिका', 'शाहिद', 'अलीगढ़', 'मंटो', 'राज़ी', 'लिपिस्टिक अंडर माई बुरक़ा', 'पारी' जैसी नई भारतीयता की मनोभूमिका और यौन-मुक्ति पर्दे पर रची जाती हैं। इन फिल्मों का समाज कहीं 'मॉड' है और कहीं मिडिल-क्लास या निम्नवर्गीय भी। पर तीनों वर्गों की युवा-पीढ़ी की हलचलें, स्पंदन, संकोच और प्रतिवाद अभी खुलकर जिस तरह पर्दे पर पेश किए जा रहे हैं, वह नाकाफ़ी और भड़काऊ है। उसमें सुधार-संशोधन की गुंजाइश है।

अरसे बाद आई आनंद गांधी की फिल्म 'शिप ऑफ़ थिसियस' ज़रूर एक निराला शाहकार अपवाद रूप में सामने है। उसकी कलाएं, अद्भुत कोण, नई गतियां, जीवन-मृत्यु के प्रसंग, सिनेमेटोग्राफ़ी, दो प्रमुख किरदारों के दर्शन और सांसारिकता की अछूती मीमांसा इस फिल्म को बाक़ी फिल्मों के फ्रेम से बाहर और अलग आध्यात्मिक स्तर तक शिखर पर बनाए रखते हैं। बाकी सिनेमा इसके स्तर पर वैचारिक चिंतन के दायरे शायद ही कभी लांघ पाया हो। इसे विश्व-सिनेमा को नई ऊंचाइयां प्रदान करने वाली फिल्म 'Spring Summer, Fall, winter and Spring' के समतुल्य रखा जा सकता है। किम का डक की यह फिल्म भी आनंद गांधी की इस फिल्म की तरह अंतरमन के पेचिदा सवालों से जूझती है और देह की यात्राओं में पार ले जाती है।



मेकअप का जादू : 'वजूद' के सेट पर

इसका अर्थ यह भी है कि भारतीय सिनेमा अपनी सजग उपस्थिति की नई राहें खोज रहा है। इस दिशा में आनंद गांधी से पहले और बाद में हमारे सिनेमा में जीवन के द्वंद्व की मार्मिक व्याख्याएं मौंताज शैली और ब्लैक कॉमेडी तथा सिनेमा की लघु-वृत्त विधाओं तक में नए सिरे से उद्घाटित हो रही हैं।

नृत्य, संगीत, छायांकन, रेखांकन, चित्रांकन और लयकारी से जुड़े नए महारथी भी सामने आ रहे हैं। एक शुद्ध शास्त्रीय परंपरा को अपनाने वाले सत्यजीत राय, मृणाल सेन, कमरूद्दीन आसिफ़, सोहराब मोदी से मुज़फ़्फ़र अली तक की आज़माइशें पर्दे की अनमोल

उपलब्धियां/निर्देशन-कला के अलावा रेखांकित हुई हैं। यहां उनकी दृष्टि और संगीत के महारथियों को खोज निकालने का एक ही मक़सद रहा होगा। अपने हटकर बनाए गए चलचित्रों को 'शुद्ध-प्रामाणिक' बनाना और विश्व-स्तरीय भी। तभी 'पाथेर पांचाली' में रविशंकर, 'एक दिन प्रतिदिन' में बी.वी. कारंत, 'एक दिन अचानक' में ज्योतिशका गुप्ता, 'अजांत्रिक' में अकबर अली खान, 'बारी-थेके-पालीये' में सलिल चौधरी, में 'सुवर्ण रेखा' में बहादुर खान 'मुग़ले आज़म' की एक ठुमरी ('प्रेम जोगन बनके') में बड़े गुलाम अली खां साहब और 'मिर्ज़ा ग़ालिब तथा 'पाकीज़ा' में गुलाम मोहम्मद हमेशा के लिए दर्ज हो पाते हैं। यही शास्त्रीयता गुरुदत्त, केदार शर्मा, अनिल बिस्वास, किशोर कुमार, गुलज़ार, इलिया राजा, शंकर, सुनील दत्त, भूपेन हज़ारिका, निमाई घोष और विशाल भारद्वाज भी अपनाते हैं। सिने कलाओं के ये नए-पुराने पारखी निर्देशक, स्क्रीनप्ले रायटर और संपादक भी हैं तो मौसिक़ी के भी उतने ही जानकार रहे हैं। पहली मिसाल खुद सत्यजीत राय हैं। अलबत्ता उन्होंने अपनी फिल्मों को दूसरी कलाओं के धुरंधरों से भी उतना ही सिरजा है। उनमें सर्वप्रमुख हैं- निमाई घोष! निमाई बाबू 25 साल तक राय से जुड़े रहे। 'गोपी गायन बाघा बाइन' (1969) से 'आगंतुक' (1991) तक का यह सफ़र बेजोड़ है। उनके अलावा 'पाथेर पांचाली' के कैमरामैन सुबर्तो मित्रा, 'घरे बाइरे' के छायाकार सोमेंदु राय तथा 'गणशत्रु' के बरूण राहा भी राय की खोज हैं।

मृणाल सेन के छायाकार के.के. महाजन और ऋत्विक घटक की फिल्म 'कोमल गांधार' के दिलीप रंजन मुखर्जी भी उतने ही चर्चित हुए हैं। राजकपूर की खोज राधू करमाकर ('जिस देश में गंगा बहती है') भी एक मिसाल हैं तो फिल्म के मूड को पकड़ने की दक्षता का एक अनूठा उदाहरण 'दस्तक' फिल्म के कमल बोस हैं। छायांकन कला के जीनियस वास्तव में फिल्मकार ऋषिकेश मुखर्जी की खोज हैं। इस फ़ेहरिस्त में अब्दुल रशीद कारदार ('दिल दिया दर्द लिया' फ़ेम), फ़ातिमा बेगम, सलिल चौधरी, ज्ञान मुखर्जी, विजय आनंद को भी दर्ज करना लाज़िमी है। यूं मेयार और शोहरत से जाने गए हस्ताक्षरों में सरस्वती देवी, अमीर बाई कर्नाटकी, दत्ताराम, मदन मोहन, ख़्य्याम, खेमचंद प्रकाश, रोशन, सहगल के ही क़सीदे पढ़े जाते रहे हैं। कुछ संगीतकारों, निर्देशकों की दख़ल पटकथा-लेखन तक में बेजोड़ रही है। सलिल चौधरी 'दो बीघा ज़मीन' के कहानीकार भी हैं तो ऋत्विक घटक के खाते में भी कई पटकथाएं दर्ज हैं। ख़ासकर फिल्म 'मधुमती' की पटकथा। राय और मृनाणा सेन को भी 'पटकथा' की फ़राज़ (ऊंचाई) हासिल है। घटक उनसे कहीं कमतर नहीं हैं। उन्होंने तो अपनी अंतिम फिल्म 'जुक्ति ताको अर गप्पो' का म्युज़िक खुद तैयार किया। मृणाल सेन ने भी सत्यजीत राय के रचे स्क्रीप्ट पर 1993 में 'अंतरीन' बनाई। 'चोरस' (1974) और 'एक दिन प्रतिदिन' (1979) के सिनेरियो को लिखा और सफल आजमाइशें की। हिंदी की उत्तरोत्तर-शैली की फिल्में 'क़िस्मत', 'टैक्सी ड्राइवर', 'जेलर', 'पुकार', 'जुनून', 'गाइड', 'ओंकारा' तक उनके निर्देशकों की सूझ-बूझ और मूल कथाओं में तराश का ही प्रतिफल है। इनके बाद की युवा पीढ़ी में अमोल गुप्ते 'तारे ज़मीन पर' और 'चिल्लर पार्टी' लिख चुके हैं। उनकी स्क्रिप्ट में ही इन दोनों फिल्मों के प्राण बसे हैं। इनके अलावा छाया-अनुभूतियों के अद्भुत शॉट के लिए 'मेघा ढाके तारा' के दीनेन गुप्ता और 'बेंडिट क्वीन' के अशोक मेहता, 'अशोका' फिल्म के संतोष सिवान याद किए जाते रहेंगे। इन सहभागी कलाओं में 'स्क्रिप्ट' और 'छायांकन' की जुगलबंदी को बिमल राय ने भी संभाले रखा। वह बरुआ की 'देवदास' के छायाकार थे। लेकिन छायांकन-कला की धुरी के रूप में एक अप्रतिम हस्ताक्षर 'काग़ज़ के फूल' के लिए वी.के. मूर्ति अपनी एक कालजयी भूमिका निभा गए हैं। उनकी कला में गुरुदत्त की इस फिल्म के रचाव में एक काव्यात्मक प्रभाव महसूस किया जा सकता है। नृत्य-निर्देशन, लांग शॉट, स्वप्न-दृश्य और त्रासदी के दृश्यों में उनकी कला शिखर पर है। विश्व स्तर पर छायांकन-कला में चमकदार रोशनी और (श्याम-श्वेत चित्रों में) गहरे काले अंधेरे का इस्तेमाल ओसीन वेल्सकी 'सिटीज़न केन' की तरह) चरित्रों को उभारने के लिए होता रहा। हिंदी सिनेमा उतना प्रभावक नहीं फिर भी 'दो बीघा ज़मीन', 'जागते रहो', 'बूट पॉलिश', 'महल', 'आसमान महल', 'शहर और सपना', 'बाज़ी', 'नया दिन नई रात', 'क़ानून', 'यादें', 'साहिब बीवी और गुलाम' तथा 'हम दोनों' अपनी छायांकन-कला के भी बेजोड़ नमूने हैं। छायांकन-कला से पात्रों की यंत्रणा को रचने वाले 'सिद्ध-फ़्रेम' ओर्सन वेल्स से भी कहीं पहले विश्व-सिनेमा में वित्तोरियो डि सिका और कुरोसावा, तारकोवॅस्की ही संभव कर पाए हैं। हमारे सिनेमा में यह 'धूप-छांही स्तरीय काम' कुछ हद तक फ्रेम दर फ्रेम शेखर कपूर ('बेंडिट क्वीन'), श्याम बेनेगल ('भूमिका', 'त्रिकाल') और केतन मेहता ('रंगरसिया', 'मिर्च-मसाला') कर दिखाते हैं। ऐंद्रिकता को भरपूर दिखा पाना, लिरिकल-रोमांटिसिज़्म के स्वांग को प्रस्तुत करना, गुरुदत्त के बाद इस त्रयी की फिल्मों में भी संभव हुआ है। नायकत्व की दहलीज़ पर खड़े अपने किरदारों (प्रतिनायकों, दुस्साहस नायिकाओं) को जोख़िम से गुज़ारने का बीड़ा इन्होंने भी उठाया है। इस जोख़िम से हिंदी के नवयथार्थवादी-सिनेमा (New Wave) को नई शैली के क़द्दावर नायकों के रूप में एक उपहार भी मिला है। आज समकाल के ख़तरे उठाने वाली फिल्मों के नायकों के रूप में इसी कारण हमारे पास संजीव कुमार, नसीर, नाना पाटेकर, ओमपुरी, मनोज वाजपेयी और नवाजुदीन सिद्दीक़ी सरीखे श्रेष्ठ कलाकार हैं। तो चरित्र-नायकों में प्राण, ए.के. हंगल की परंपरा का अनुसरण करने वाले विनय पाठक, रघुवीर यादव, बोमन ईरानी और संजय मिश्रा भी हैं, जो नई से नई फिल्मों की संजीवनी बने हुए हैं। इन सभी कलाकारों, फ़नकारों और अन्य सिने-कलाओं के सहोदर रूपों से ही भारतीय सिनेमा का समूचा परिदृश्य आज सतरंगा बना हुआ है। इसकी रूमानियत, हुस्नपरस्ती और रूहेरवां (जीवन) के रंग बदलते रहते हैं लेकिन इसकी आभा कभी कम नहीं हुई है। सिनेमा की इस जादूगरी और तिलिस्म को एक शायर ने रूपसी की तरह ठीक ही बयान किया है-'इसी में सारी ज़िंदगी की लुका-छिपी का 'खेल' छिपा हुआ है।



पटकथा के दम पर : 'ज़ोर लगाके हईसा'

'नज़र उस हुस्न पर ठहरे...,
तो आख़िर किस तरह ठहरे
कभी वो फूल बन जाए...,
कभी रुख़्सार बन जाए।।'

सिनेमा सहोदर कलाओं की सूरत ही, यही खेल रचता है। गीत-संगीत और अन्य कलाओं की इन खूबसूरत सौग़ात के बिना गुलफ़ाम-सब्दपरियों से सजे हिंदुस्तानी-सिनेमा की कल्पना नहीं की जा सकती। ❑

सिनेमा को
अलग-अलग खांचों में नहीं बांट सकते



लेखक, कवि-गीतकार, फ़िल्मकार एवं व्याख्याता। वर्तमान में लोक गीत-संगीत सहित 'सिनेमा में साहित्य तथा संप्रेषण' विषय पर पुस्तक लेखन एवं वृत्तचित्र निर्माण के कार्य में संलग्न। राष्ट्रीय सम्मान प्राप्त।

सामाजिक सरोकार से जुड़ कर उद्देश्यपूर्ण सिनेमा का निर्माण करने वाले श्याम बेनेगल भारतीय सिनेमा के उन प्रमुख व्यक्तित्वों में से एक हैं जिन्होंने भारत में फिल्मों की प्रचलित धारा के विपरीत चल कर शीर्ष के उस आसन पर स्वयं को आसीन किया जो पूर्ण रूप से सिनेमा को समर्पित रहा है।

सिनेमा को सिनेमा के द्वारा ही जानने-समझने के लिए ही श्याम बेनेगल ने विज्ञापन फ़िल्मों को अपना प्रथम माध्यम बनाया। साठ के दशक के पूर्वार्ध में सिकंदराबाद-हैदराबाद जुड़वां महानगर से चल कर मुंबई पहुंचे श्याम बेनेगल ने प्रचार फिल्मों के लघु पटल पर सर्वप्रथम अपनी उपस्थिति अंकित की। लगभग एक दशक तक विज्ञापन फिल्मों में रहते हुए श्याम बेनेगल ने फिल्म माध्यम की प्रत्येक विधा, उसकी तकनीक, कथा-कहानी के प्रारूप तथा अन्य संबंधित प्रत्यक्ष-परोक्ष अवयवों-तत्वों को विस्तार से समझा-बूझा। यही वो समय था जिसके सान्निध्य में श्याम ने स्वयं को मुख्य धारा की सिनेमा में प्रवेश करने के पूर्व भली-भांति तैयार किया। अल्प अवधि के प्रचार फिल्मों और तीन घंटे के सामान्य सिनेमा में निर्माण प्रक्रिया का घटना क्रम तो एक समान ही होता है, मात्र अवधि को छोड़ कर।



श्याम बेनेगल

'अंकुर' (1973) फिल्म से सिनेमा की मुख्य धारा में प्रवेश करते ही श्याम बेनेगल एक चिर-परिचित नाम बन गए। यह सब अनायास ही नहीं हो गया था बल्कि इसके पार्श्व में उनका वो समर्पित श्रम था जो उन्होंने विगत दस वर्षों के अंतराल में सिनेमा के समस्त प्रभाग को समझने-बूझने में लगाया था। व्यावसायिक फिल्मों के निर्माता-निर्देशकों से पृथक श्याम बेनेगल का कार्य बौद्धिक स्तर पर चिंतन-मनन, संबंधित विषय पर अध्ययन, शोध तथा उसकी विश्वसनीयता को सुनिश्चित करने के साथ ही उसके क्रियान्वयन को समुचित प्रारूप देने के कारण अत्यंत दुरूह, श्रमसाध्य और चुनौतीपूर्ण था। निश्चित पूंजी और सीमित संसाधनों की परिधि में फिल्म को पूर्णता प्रदान करने का दायित्व निभाते हुए श्याम बेनेगल एक के पश्चात् दूसरी और फिर तीसरी-चौथी फिल्म का निर्माण-निर्देशन करते हुए आगे बढ़ते रहे। 'निशांत' (1975), 'मंथन' (1976), 'भूमिका' (1977) जैसी फिल्में अब तक श्याम बेनेगल के सरोकार, संदेश और उद्देश्य को स्पष्ट कर चुकी थीं। ये सभी फिल्में मात्र मनोरंजक नहीं थीं अपितु समाज के ही एक वर्ग की ऐसी कथा को अपने में समोए हुए थीं जो इसी समाज के एक दूसरे वर्ग का कोप भाजन बन शापित जीवन जीने को त्रस्त थीं।

फिल्मों के दीर्घ पटल से टेलीविजन के लघु चित्रपट पर आते हुए बेनेगल की विभिन्न प्रस्तुतियां इस धरातल पर उनकी प्रतिभा एवं अध्ययनशीलता का एक और पक्ष उजागर कर गईं। जवाहरलाल नेहरू की पुस्तक 'डिस्कवरी ऑफ़ इंडिया' पर आधारित श्याम बेनेगल की 'भारत एक खोज' (1988) इस अवधि में विशेष रूप से उल्लेखनीय रही। अब तक सिनेमा में श्याम बेनेगल का व्योम विस्तार का और भी वृहद आयाम पा चुका था। अभिनेता शशि कपूर के संग फिल्म 'जुनून' (1978) और 'कलयुग' (1981) और इसके आगे 'मंडी' (1983), 'चित्रकाल' (1985), 'सरदारी बेगम' (1996), 'जुबैदा' (2001), 'वेल्कम टू सज्जनपुर' (2008), 'वेल डन अब्बा' (2010) जैसी फिल्मों ने श्याम बेनेगल को उस बहुआयामी जीवंत प्रतिभा के सांचे में ढाल दिया जो समाज के विगत से उसके आगत को वैभवपूर्ण बनाने हेतु वर्तमान के धरातल पर नित-नूतन उद्देश्यपूर्ण फिल्म बनाने के अपने दायित्व से अलंकृत रहा है।

'पद्मश्री' (1976), 'पद्म भूषण' (1991) के साथ ही सिनेमा के सर्वोच्च सम्मान 'दादा साहेब फाल्के पुरस्कार' (2005) से विभूषित श्याम बेनेगल आज भी अपने अध्ययन और शोध को अपनी परिकल्पना की उड़ान का पंख बना कर नूतन लक्ष्य को साधने में रत हैं।

सुप्रसिद्ध फिल्मकार ***श्याम बेनेगल*** *से 'आजकल' के इस अंक हेतु लेखक एवं फिल्मकार* ***राजीव श्रीवास्तव*** *ने उनके कृतित्व पर विस्तार से वार्ता की है। प्रस्तुत है इस साक्षात्कार के प्रमुख अंश–*

प्रश्न : 1947 के पश्चात् विभिन्न विषयों पर भारतीय हिंदी सिनेमा का निर्माण होता चला आ रहा है। राजकपूर द्वारा निर्मित-निर्देशित फिल्म 'आवारा' (1951) प्रथम ऐसी भारतीय फिल्म है जिसने विश्व स्तर पर तब फिल्म के प्रत्येक विभाग में एक सवश्रेष्ठ फिल्म होने का गौरव पाया है। फिल्म का शीर्षक गीत 'आवारा हूं या गर्दिश में हूं...' आज भी भारत की सीमा को लांघ कर विश्व के अनेकों देशों में गाया-बजाया जाता है। यदि आपको ऐसी ही अपनी रुचि के कुछ 'ट्रेंड सेटर' श्रेष्ठ फिल्म और श्रेष्ठ निर्देशकों का नाम लेना हो तो आपकी पसंद क्या होगी?

संपर्क : *'गोल्फ़ अपार्टमेंट', 114, प्रथम तल, 'गेहा निवास', सुजान सिंह पार्क, 03, महर्षि रमण मार्ग, नई दिल्ली-110003 मो. 09415323515*

उत्तर : भारतीय सिनेमा का जो प्रारूप है और जिस प्रकार का उसका चरित्र है वह पूरी तरह से उसका अपना है। हमारे यहां के सिनेमा की जो कथा शैली है और इसका जो व्याकरण है वह विश्व सिनेमा से एकदम अलग है। किसी फिल्म को जब हम 'सर्वश्रेष्ठ' कहते हैं तब वह पूरी तरह से तब तक उस मापदंड पर खरा नहीं उतरता जब तक हम उसकी तुलना उसी तरह की किसी ऐसी फिल्म से नहीं करते जिसकी कथा-शैली और व्याकरण उसके समरूप हो। हां, गायक मुकेश के स्वर में 'आवारा हूं' गीत की लोकप्रियता अवश्य ही स्पष्ट रूप से किसी भी देश के सिनेमा के व्याकरण या गीत-संगीत विशेष के सांचे से कहीं ऊपर है। ये गीत भारत में ही नहीं वरन् मध्य एशिया, पूर्वी यूरोप और तत्कालीन सोवियत रूस तक में अत्यधिक लोकिप्रय था और आज भी इसका जादू जस का तस है।

1970 के दशक के पूर्वार्ध और उसके बाद की समयावधि में जब आप पूर्ण रूप से 'कथा चित्र' के क्षेत्र में आ गए तब आपके समक्ष किस प्रकार की चुनौतियां थीं?

क्योंकि तब के लोकप्रिय भारतीय सिनेमा के प्रारूप से मैं सहमत नहीं था, ऐसे में मेरी तरह की फिल्मों की लोकिप्रयता के संदर्भ में स्वीकार्यता के प्रति अत्यधिक चुनौतियां थीं। व्यावसायिक सिनेमा से एकदम अलग राह पर चल कर उद्देश्यपूर्ण सामाजिक सरोकार की फिल्में बनाना कभी भी किसी के लिए सहज नहीं रहा। ऐसे में हर प्रकार की चुनौतियों के लिए हमें जागरूक रहना पड़ता था। आप जब कोई काम करते हैं तो कठिनाइयां तो आती ही हैं। आप यदि बुरी से बुरी परिस्थितियों के लिए भी तैयार हैं तब आगे बढ़ने का रास्ता भी तैयार हो जाता है।

क्या विज्ञापन फिल्मों का आपका अनुभव आपको भारतीय सिनेमा की मुख्य धारा में प्रवेश कराने में सहायक रहा?

विज्ञापन फिल्में बनाना मेरे लिए एक विशेष प्रकार का अध्ययन और अनुभवसिद्ध हुआ। वास्तव में विज्ञापन फिल्में बनाने का काम मेरे लिए सिनेमा की निर्माण-प्रक्रिया को समझने का एक माध्यम था। इसमें काम करते हुए फिल्म के तकनीकी पक्ष और उसकी कथा-शैली के सभी रूपों को सीखने-समझने का मुझे भरपूर अवसर मिला। इतने वर्षों तक विज्ञापन सिनेमा में मैंने जो अपना समय लगाया वो फिल्म-निर्माण के प्रत्येक क्षेत्र को भली-भांति जानने का मेरा एक कार्यक्षेत्र था जिसका पूरा लाभ मुझे सिनेमा की मुख्य धारा में आने और फिर इसी में आगे बढ़ते रहने में अत्यधिक सहायक सिद्ध हुआ।



श्याम बेनेगल के साथ लेखक

भारतीय फिल्म उद्योग सदा ही सिनेमा के व्यावसायिक पक्ष और उसके आर्थिक तत्वों द्वारा संचालित किया जाता रहा है। इस संदर्भ में समय-समय पर इसे 'नई लहर सिनेमा', कला फिल्म, समांतर सिनेमा, मध्य सिनेमा आदि जैसे नामों और वर्गों से विभूषित किया जाता रहा है। सिनेमा के इस भिन्न-भिन्न स्वरूपों पर आप क्या कहना चाहेंगे?

जी हां, आपने सही कहा। मैं सिनेमा को ऐसे किसी भी एक नाम या प्रकार से बांधने के पक्ष में नहीं हूं। सिनेमा को आप अलग-अलग खांचों में नहीं बांट सकते। अपने कथानक और प्रस्तुति के कारण हर सिनेमा या तो किसी से मिलता-जुलता होगा या उससे अलग होगा। कई बार एक ही विषय और कथानक पर कई फिल्में बनाई गई हैं पर अपनी भिन्न-भिन्न प्रस्तुति के कारण उसका प्रभाव दर्शकों पर अलग-अलग होता है। ऐसे किसी नाम में बांध कर आप उस पर एक ठप्पा लगाते हैं जो मेरे विचार से उचित नहीं है।

क्या विश्व के सबसे बड़े फिल्म निर्माण करने वाले इस देश की फिल्मों को सिनेमा का वैश्विक बाज़ार अपने नियम और प्रावधान द्वारा संचालित कर रहा है?

हां, ये प्राय: होता आया है कि 'बाज़ार' का हस्तक्षेप सिनेमा पर रहता है। किस प्रकार की फिल्में हों, कथानक क्या हो, उसमें क्या-क्या पिरोया जाए जैसी बातें समय-समय पर की तो जाती हैं पर, इसी के साथ ये भी देखा गया है कि कुछ फिल्में ऐसी भी होती हैं जो अपनी विषय-वस्तु और प्रस्तुति के सर्वथा पृथक दृष्टिकोण के कारण 'बाज़ार' के प्रचलित मापदंड को भी प्रभावित कर जाती हैं। ऐसे में 'बाज़ार' को भी इनके अनुसार स्वयं को बदलना पड़ता है।

आपकी प्रथम फिल्म 'अंकुर' के बाद क्या कारण है कि आपकी अन्य फिल्में दर्शकों को सिनेमा थिएटर तक लाने में सफल नहीं हो सकीं?

आपका यह आकलन अर्द्धसत्य है। मैं आपके इस कथन से पूरी तरह से सहमत नहीं हूं। मात्र मनोरंजन और व्यवसाय के लिए फिल्म बनाना और सामाजिक सरोकार के साथ उद्देश्यपूर्ण सिनेमा का निर्माण करना दो पृथक-पृथक बातें हैं। इन दोनों में तुलना करना तार्किक नहीं है। मेरी कम ही फिल्में असफल रही हैं।

बॉक्स ऑफ़िस पर असफल रहने के बाद भी राज कपूर की 'जागते रहो', शैलेंद्र की 'तीसरी क़सम' जैसी अतर्कपूर्ण कलात्मक फिल्में सत्यजीत राय, मृणाल सेन, गौतम घोष और आपकी फिल्मों की तुलना में अधिक लोकप्रिय रही हैं। लोक संगीत को अपने में समाहित किए इन फिल्मों का गीत-संगीत वर्तमान में भी अत्यधिक लोकिप्रय और कालजयी है। इन सब के पीछे के कारणों में आप किन तत्वों को दोषी मानते हैं?

किसी फिल्म की व्यावसायिक सफलता को मापने के लिए आपको उस फिल्म विशेष के निर्माण में लगे कुल धन और फिर उसके द्वारा अर्जित की गई कुल धनराशि के आधार पर करनी होगी। किसी फिल्म के द्वारा अर्जित जो बड़ी धनराशि का आंकड़ा हमें बताया जाता है उसमें से उस फिल्म के निर्माण, प्रचार-प्रसार पर व्यय की गई बड़ी धनराशि को निकाल कर जो शेष राशि बचती है वह कम लागत से बनी किसी सफल फिल्म की आय की तुलना में लाभ प्रतिशत के हिसाब से कम ही होती है। लाभ-हानि का गणित वैसे तो सरल और सीधा-सा है पर इसे आप यदि उलझा देंगे तो चित्र भ्रामक ही दिखेगा।

हमारे यहां कहानियों के लिए क्यों भारतीय सिनेमा विदेशी कहानी की नक़ल कर रही है जबकि हमारे यहां लोक कथा, लोक साहित्य और लोक गीत-संगीत का प्रचुर भंडार उपलब्ध है।

आपके इस कथन से मैं पूर्णतया सहमत हूं। हमारे अपने देश के साहित्य में, अलग-अलग प्रादेशिक साहित्य और हर क्षेत्र की लोक संस्कृति में इतना कुछ उपलब्ध है कि यदि आने वाले समय में सदियों तक इसका प्रयोग किया जाए तो भी ये कम नहीं पड़ेंगी। जितना विविधतापूर्ण साहित्य हमारे देश में है वैसा विश्व के किसी भी देश में नहीं है।

आप नए युवा फिल्मकारों को क्या संदेश देना चाहेंगे?

सिनेमा में नित नए-नए जो प्रयोग हो रहे हैं उस पर आपकी पैनी दृष्टि होनी चाहिए। सीखना और जानना जीवन पर्यंत एक निरंतर प्रक्रिया है। कुछ नया सीखते रहने का हौसला व्यक्ति को सदैव नवीनता से जोड़े रखता है। ❑

सिनेमा में स्त्री

यशस्विनी पांडेय



शिक्षा : पीएच-डी। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कविताएं, कहानियां, फिल्म समीक्षा, यात्रा-संस्मरण आदि प्रकाशित। एक कविता-संग्रह 'शायद ऐसा हो', आलोचना पुस्तक 'छायावादी काव्य में स्त्री, प्रकृति और दर्शन' और 'य से यशस्विनी य से यात्रा' नाम से एक यात्रा वृत्तांत प्रकाशित। संप्रति : सहायक प्रोफ़ेसर।

सिनेमा अभिव्यक्ति और अन्वेषण दोनों का समर्थ माध्यम है। कभी-कभी यह वास्तविक जीवन काल और घटनाक्रम का एक संक्षिप्त संस्करण होता है और कभी-कभी इसमें किसी साहित्यिक कृति की अविकल अनुकृति होने की कोशिश होती है। सिनेमा भावुकता और प्रतीकात्मकता से परिपूर्ण और कभी-कभी इनसे रहित सचल कलाकृति है। इसमें व्यावसायिकता एवं कलात्मकता का पुट होता है। प्रशासनिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनैतिक गतिविधि तथा संबंधों के रूपायन के साथ ही अपेक्षित सुधार के लिए इसमें संदेश भी होता है।

सिनेमा में नारियों की बहुआयामी भूमिका है। समय के साथ बदल रही स्त्री ने मौन स्वीकृतियों को छोड़कर अपने लिए अपनी ख़्वाहिशों के मोरपंखी रंग जुटा लिए है। आज के दौर में सौंदर्य और सौम्यता के साथ-साथ नारियों ने अपनी क्षमता का भी लोहा मनवाया है। स्त्री अब बदल रही है। उसे इस बात से कोई फ़र्क नहीं पड़ता कि आसपास के लोग उसे क्या कह रहे हैं। वह सिर्फ़ उसी रास्ते पर आगे बढ़ना चाहती है, जिसका चुनाव उसने स्वयं किया है।



फिल्म : 'चोरी चोरी चुपके चुपके'

अरस्तु ने कहा था– Man is by nature a political animal तो इससे उस समय के समाज और जीवन में राजनीति की अहमियत का पता चलता है। कोई भी व्यक्ति या समाज राजनीति से विमुख या अलग नहीं हो सकता है। लेकिन अरस्तु ने man शब्द का ही प्रयोग क्यों किया था? क्या इसके पीछे उनकी कोई राजनैतिक दृष्टि काम कर रही थी? भेदभाव जाने-अनजाने छिपा होता है। दरअसल पितृसत्तात्मक समाज की भाषा में भी पुरुष वर्चस्व और मर्दवादी मानसिकता दिखाई देती है।

अरस्तु ने केवल man शब्द का इस्तेमाल कर महिलाओं को इस विमर्श से बाहर कर दिया बल्कि प्रकारांतर से उन्होंने एक तरह से यह सिद्ध भी कर दिया कि राजनीति की बागडोर मुख्य रूप से पुरुषों के हाथ में ही रहेगी। यह अलग बात है कि बीसवीं सदी तक आते-आते स्त्रियों ने कुछ हद तक इस वर्चस्व को चुनौती देने की कोशिश की लेकिन पूरी दुनिया में राजनैतिक क्रियाकलापों पर अभी भी वर्चस्व पुरुषों का ही बना हुआ है। राजनैतिक विश्लेषक और अध्येता man शब्द को व्यक्ति या human being मान कर चलते हैं लेकिन क्या अरस्तु के अवचेतन में पुरुषवादी भाषा काम कर रही थी और यह यूनान के तत्कालीन पितृसत्तात्मक समाज की मानसिकता की देन थी जिसमें इस तरह की शब्दावली का प्रयोग किया गया। यहां अरस्तु की इस शब्दावली के ज़रिए पूरे युग की मानसिकता का अध्ययन किया जा सकता है और सभ्यता विमर्श में लैंगिक भेदभाव को देखा जा सकता है।

दुनिया के इतिहास में किसी भी क्षेत्र में स्त्री को वह प्रतिनिधित्व, अधिकार नहीं मिला क्योंकि समाज ही समावेशी नहीं है। राजनैतिक संरचना के साथ-साथ सामाजिक संरचना भी स्त्री के अनुकूल नहीं है। इसलिए स्त्री की भागीदारी कम है और अगर है तो उन्हें कम रेखांकित किया गया या उनका मूल्यांकन कम हुआ और पुनर्मूल्यांकन भी नहीं हुआ। भारत में भी 'मनुस्मृति' जैसे ग्रंथ और 'रामायण' तथा 'महाभारत' जैसे पौराणिक ग्रंथ भी स्त्रियों और दलितों को उनके अधिकार से वंचित करते रहे। चाहे सीता हो, द्रौपदी, मंदोदरी, कुंती या शबरी सभी पात्र मर्दवादी नज़रिए से रचे गए और उन्हें पुरुष की सत्ता और वर्चस्व का शिकार होना पड़ा। उन्हें वह समान अधिकार नहीं मिला जिसकी वे अधिकारी रही।

भारत के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम से लेकर राष्ट्रीय आंदोलन पर लिखे गए इतिहास में इस कमी को देखा जा सकता है। इतिहास-लेखन में भी पुरुषों का ही वर्चस्व रहा। आज़ादी से पहले चाहे जदुनाथ सरकार हों, आर सी मजूमदार, के पी जायसवाल या वासुदेवशरण अग्रवाल और ईश्वरी प्रसाद जैसे बड़े इतिहासकार सभी पुरुष ही रहे। आज़ादी के बहुत बाद रोमिला थापर, तनिका सरकार, सुबीरा जायसवाल, मृदुला मुखर्जी, गायत्री चक्रवर्ती जैसी महिला इतिहासकारों के आने से पुरुष इतिहासकारों का वर्चस्व टूटा लेकिन समाज विज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में अभी भी पुरुषों का ही वर्चस्व रहा है। कमोबेश यही स्थिति साहित्य में भी रही। मीरा और महादेवी को वह स्थान नहीं मिला जो तुलसी या पंत को मिला। हिंदी की नई कहानी हो या नई कविता आंदोलन,

***संपर्क** : 221/4, एयरफ़ोर्स स्टेशन, दार्जिपुरा, वडोदरा-390022 (गुजरात) मो. 8306396839*

प्रमुखता पुरुषों की रही। इसी तरह फिल्म निर्माण क्षेत्र भी पुरुषों द्वारा संचालित रहा, केवल अभिनय और गायकी के क्षेत्र को छोड़कर। वैसे भारतीय फिल्मों में प्रतिभाशाली अभिनेत्रियों का दबदबा अभिनेताओं की तुलना में कम नहीं रहा। देविका रानी से लेकर नर्गिस, मधुबाला, वैजयंती माला, वहीदा रहमान, नूतन, मीना कुमारी, हेमा मालिनी, रेखा, स्मिता पाटिल, शबाना आज़मी, माधुरी दीक्षित तथा करीना कपूर जैसी अभिनेत्रियों ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया और वे पुरुष अभिनेताओं की तुलना में कम नहीं रहीं लेकिन दादा साहब फाल्के पुरस्कार पाने में वे पुरुषों से पीछे रहीं। निर्देशन-निर्माण, संगीत-निर्देशन, गीत-लेखन में उनकी भागीदारी कम रही। देविका रानी को अपवाद के रूप में छोड़ दिया जाए तो बहुत कम महिलाओं को निर्माता-निर्देशक के रूप में ख्याति मिली। सरस्वती देवी, जद्दन बाई, उषा मंगेशकर जैसी महिला संगीत-निर्देशक भी कम रही। महिला गीतकारों में माया गोविंद भी अपवाद हैं। पृथ्वीराज कपूर, सोहराब मोदी, महबूब, राजकपूर, चेतन आनंद, विमल राय, के. आसिफ़, गुरु दत्त, यश चोपड़ा, बी आर चोपड़ा, ह्रषिकेश मुखर्जी, बासु भट्टाचार्य, गुलज़ार जैसे निर्माता-निर्देशक पुरुष ही रहे। शायद यही कारण था कि निर्माता-निर्देशकों और गीतकारों ने हिंदी फिल्मों में स्त्री-विमर्श को केंद्र में नहीं रखा और रखा भी तो पुरुषवादी नज़रिए से ही उनका चरित्र चित्रण किया। कुछ अपवादों मसलन 'मदर इंडिया' या 'पाकीज़ा' को छोड़कर वे मुख्य किरदार में कम रहीं। उन्हें एक आदर्श पत्नी, शोषित और दुखी नारी के रूप में पेश किया। चाहे वो 1936 की बनी 'अछूत कन्या' हो, 1940 की बनी 'औरत' हो, 1957 की बनी 'मदर इंडिया' हो, 'बंदिनी' हो, 'सुजाता' या 'मुग़ले आज़म' इन सभी फिल्मों में स्त्री को पीड़ित दिखाया गया। हिंदी फिल्मों में अक्सर स्त्री को पतिव्रता नारी या देवी या प्रेमिका या फिर ममतामयी मां के रूप में दिखाया गया। 'ख़ानदान' फिल्म में नूतन गाती है 'तुम ही मेरे मंदिर तुम ही.... हो..' यानी स्त्री पूरी तरह अपने पति के प्रति समर्पित है। वह पुरुष के चरणों में गिरी हुई है।



फिल्म : 'पिंक'

'साहब बीवी और गुलाम' फिल्म इस बात को याद दिलाती है जब मीना कुमारी रहमान के साथ प्रणय निवेदन करती है। ऐसे अनेक दृश्य हिंदी फिल्मों में हैं लेकिन पुरुष स्वतंत्र है। वह दूसरी स्त्री से प्रेम कर लेता है, रोक केवल स्त्रियों पर रही। भारतीय समाज में स्त्रियों की जो स्थिति रही है उसे इन फिल्मों ने दिखाया। मीना कुमारी, नूतन जैसी अभिनेत्रियां दब्बू, सीधी-सादी, सरल समर्पित पत्नियों का प्रतीक बनीं। उन्हें अपने अधिकारों के लिए लड़ते कम दिखाया गया। दरअसल इन निर्माता-निर्देशकों और पटकथा-लेखकों की राजनैतिक समझ पर भी आज सवाल उठने की ज़रूरत है। क्या ये निर्माता-निर्देशक और पटकथा-लेखक पुरुषवादी मानसिकता के शिकार थे। तत्कालीन समाज में स्त्री को इसी रूप में ही देखा जाता रहा है। भारतीय राजनीति ने भी स्त्री-विमर्श को तेज़ करने में आख़िर उन्होंने क्या योगदान दिया जो राजनैतिक दल समाज में सक्रिय थे। उसने स्त्री को लेकर क्या सवाल उठाए? संविधान सभा के गठन में कितनी महिलाओं को प्रतिनिधित्व दिया गया? निर्णय लेने की प्रक्रिया और संस्थाओं में स्त्री की भागीदारी बहुत कम रही जिसके कारण पुरुषों का वर्चस्व प्रशासन से लेकर न्यायपालिका और न्यायपालिका से लेकर कार्यपालिका में भी देखने को मिला।

महिला की समस्या को भी फिल्मों में रूमानी और परंपरागत तरीके से पेश किया गया। कभी वह प्रेमिका रही, कभी रखैल, कभी समर्पित पत्नी, कभी विधवा तो कभी वीरांगना या वेश्या। एक ज़माने में रानी लक्ष्मीबाई पर फिल्म तो बनी लेकिन झलकारी बाई या बेगम हज़रत महल या उन जैसी अनेक महिला स्वतंत्रता सेनानियों पर फिल्में हिंदी में नहीं बनीं। दलित और आदिवासी महिलाओं की जीवन गाथा ने फिल्म निर्माताओं को कम ही प्रेरित किया। वैसे कुछ अपवाद गिनाए जा सकते हैं। पुतली बाई पर फिल्म तो बनी लेकिन उसे 'मुझे जीने दो' की तरह क्यों नहीं पेश किया गया? क्यों नहीं ज्योतिबा फुले, पंडित रमा बाई और कस्तूरबा के जीवन को आधार बना कर फिल्में बनीं? यहां इस लेख का मकसद इस बात की तरफ़ इशारा करना है कि हिंदी फिल्मों के साथ स्त्री के नज़रिए की राजनीति को पेश नहीं किया गया और 'लीडर' फिल्म बनी तो उसमें दिलीप कुमार ही नायक थे, कोई अभिनेत्री नहीं। यहां तक कि 'नया दौर' में भी किसी नायिका को राजनीति के केंद्र में रखा नहीं गया वहां भी पुरुष ही केंद्र में है जबकि राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान राजनीति में सरोजनी नायडू, सुचेता कृपलानी, अरुणा आसफ़ अली, राजकुमारी अमृत कौर, किशोरी सिन्हा, राम दुलारी सिन्हा, तारकेश्वरी सिन्हा जैसी अनेक महिलाएं सक्रिय थीं। नेताजी सुभाष चंद्र बोस ने भी 'आज़ाद हिंद फ़ौज' में महिलाओं को भी शामिल किया था। आज़ादी की लड़ाई में कई महिलाओं ने अपनी जान गंवाई। ज़ाहिर है वे साहसी महिलाएं रही होंगी लेकिन वे फिल्मों की कहानियों में नायिकाएं नहीं बनीं। क्या इसलिए कि भारतीय समाज में भी महिलाओं के जीवन-संघर्ष और उनकी सफलता की कहानी को कम आंका गया। इसलिए उनकी ओर हम सबका ध्यान नहीं गया जिससे वे हमेशा हाशिए पर रहीं। उन्हें त्याग, तपस्या तथा समर्पण की प्रतिमूर्ति कह कर उनको हाशिए पर रखने की चतुराई की गई। सत्तर के दशक में इंदिरा गांधी के रूप में महिला शक्ति का प्रतीक सामने आने पर 'आंधी' फिल्म में पहली बार स्त्री को केंद्र में जगह मिली जो राजनीति में सक्रिय है। यह इंदिरा गांधी के उत्थान के बाद की घटना है जबकि इससे पहले श्रीलंका और इज़रायल में भंडारनायके और गोल्डा मायेर के रूप में स्त्री शक्ति का उदय हो गया था। दरअसल बॉलीवुड में ही नहीं हॉलीवुड में भी कमोबेश पुरुष वर्चस्व रहा है जिसके कारण नायिका-प्रधान फिल्में कम बनी हैं और उनमें राजनैतिक गतिविधियों को कम दिखाया गया है।

'पिंक' पहली फिल्म है जिसने भारतीय समाज में और पूरी शासन व्यवस्था में व्याप्त मर्दवादी सोच को तार-तार कर रख दिया। इससे पहले महिला सशक्तीकरण और स्त्री स्वातंत्र्य को लेकर कई फिल्में बनीं जैसे-'अर्थ', 'सुबह' जैसी फिल्मों से लेकर 'चक दे इंडिया' और 'मेरीकॉम' और 'दंगल' जैसी कुछेक फिल्मों ने तो स्त्री सशक्तीकरण को नए रूप में पेश करने की कोशिश की है लेकिन समाज में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिसमें अनेक स्त्रियों ने देश-दुनिया को बदलने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उदाहरण के तौर पर इस वर्ष कुछ ऐसी गुमनाम महिलाओं को पद्मश्री पुरस्कार मिले जिन्होंने अपने

रचनात्मक कार्य के ज़रिए समाज को बदला। इनमें नेपाल की अनुराधा कोइराला से लेकर 91-वर्षीय डाक्टर दादी मां भी शामिल हैं जिन्होंने हज़ारों गर्भवती महिलाओं का मुफ़्त में इलाज किया। ये महिलाएं गौर देवी या मेधा पाटेकर या अरुणा रॉय की तरह समाज में रोल मॉडल रहीं पर उन्हें रेखांकित नहीं किया गया। अब पिछले तीन दशकों में भारतीय राजनीति में भी महिलाओं की भागीदारी में वृद्धि हुई है और मायावती से लेकर जयललिता तक अनेक स्त्रियां रहीं जिन्होंने भारतीय राजनीति के चेहरे को बदलने की कोशिश की। लेकिन इस दृष्टि से हिंदी फिल्में न के बराबर बनीं जिनमें इस बदलाव को रेखांकित किया गया हो, ख़ासकर राजनीति के अपराधीकरण के बीच एक स्त्री को शीर्ष पर पहुंचना कितना कठिन होता है।

फिल्मी नायिकाओं ने राजनैतिक क्षेत्र में भी अपनी उपस्थिति से हलचल उत्पन्न किया है। अभिनेत्रियों को राजनीति में जगह दी जाती रही है। इसकी शुरुआत नरगिस से हो गई थी। वैसे देविका रानी भी राजनैतिक गलियारे में नज़र आती थीं। लेकिन उन्होंने राजनीति में विशेष रुचि नहीं ली। नरगिस ने अवश्य संसद की मानद सदस्यता स्वीकार की थी। वे भी नेहरू परिवार की निकटस्थ थीं। नरगिस संसद में भले ही पहुंच गईं, लेकिन एक राजनैतिक या सजग सांसद के रूप में उन्हें नहीं याद किया जाता। उन्होंने संसद की बहसों में अधिक हिस्सा नहीं लिया। ऐसा कहा जाता है कि एक बार सत्यजित रॉय के विरुद्ध उन्होंने यह बोल दिया था कि उन्होंने अपनी फिल्मों में भारत की ग़रीबी दिखाकर अंतरराष्ट्रीय ख्याति अर्जित की है। अपने समय में दक्षिण भारत की प्रमुख अभिनेत्री जयललिता तमिलनाडु की राजनीति में सक्रिय रहीं। एम.जी. रामचंद्रन के निर्देश पर उन्होंने राजनीति में प्रवेश किया और मुख्यमंत्री की कुर्सी तक पहुंचीं। दक्षिण भारत के फिल्म अभिनेता- अभिनेत्रियों का राजनैतिक महत्व और योगदान बहुत अधिक रहा है। हिंदी फिल्मों के कलाकारों की तुलना में उनकी राजनैतिक और सामाजिक स्वीकृति भी अधिक रही है। दक्षिण भारत से हिंदी फिल्मों में आईं वैजयंतीमाला भी संसद में पहुंचीं लेकिन कोई उल्लेखनीय योगदान नहीं कर सकीं। वस्तुतः संसद में उनकी उपयोगिता केवल शोभा बढ़ाने तक ही सीमित रही। विगत वर्षों में अभिनेत्रियां संसद में पहुंची हैं जिन्होंने संसदीय कार्यवाही में सक्रिय भूमिका निभाई है।



फिल्म : राज़ी

राजनीति संभावनाओं का खेल है और इस खेल को चित्रित करना एक जटिल प्रक्रिया है। राजनैतिक विषय, प्रसंग और पात्र को लेकर फिल्म बनाना और उसमें नारियों को सशक्त भूमिका देना बहुत चुनौतीपूर्ण कार्य है। फिर भी इस दिशा में फिल्मकारों ने कुछ प्रयास अवश्य किया है। राजनैतिक फिल्मों की कड़ी में 'आंधी' का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। हिंदी के मशहूर लेखक कमलेश्वर के उपन्यास 'काली आंधी' पर आधारित 'आंधी' पहली फिल्म थी जिसमें स्त्री को राजनीति के केंद्र में रखा गया था। इस फिल्म को लेकर विवाद भी हुए थे।

राजनैतिक फिल्म बहुत भावनिष्ठ होती है। ईमानदार, अच्छी और गंभीर राजनैतिक फिल्म के लिए साहस की ज़रूरत होती है। भावनिष्ठ विचार-बिंदु को लेकर एक वस्तुनिष्ठ फिल्म बनाना सहज नहीं होता। राजनैतिक प्रणाली पर टिप्पणी करना, इसे चुनौती देना या इसमें सुधार की अपील करना बहुधा जोखिम भरा होता है। इसी कारण राजनीति से संबंधित फिल्में कभी-कभी बनती हैं। आज भारतीय राजनीति का वह रूप नहीं रहा जो 15 साल पहले था। नई आर्थिक नीति के बाद से भारतीय राजनीति भी बदली है। बाज़ार, सांप्रदायिकता, कॉर्पोरेट संस्कृति, बहुराष्ट्रीय कंपनियों के विकास, भूख-ग़रीबी तथा बेरोज़गारी के त्रिकोण ने भी इस राजनीति को प्रभावित किया है। इस बीच आतंकवाद और नक्सलवाद की चुनौतियां भी बढ़ी हैं। नक्सलवाद को लेकर हाल ही में बहुत अच्छी फिल्म बनी 'बुद्धा इन अ ट्रेफिक जाम' पर इसमें भी स्त्री भूमिका न के बराबर रही लेकिन जितनी थी वह बहुत सशक्त थी।

किराए की कोख

हिंदी साहित्य की दुनिया में पहली बार यह अवधारणा 1980 के आसपास तब आई जब राजस्थान के हिंदी कहानीकार आलम शाह खान की एक कहानी 'किराए की कोख' शीर्षक से 'सारिका' में प्रकाशित हुई थी तब उसके संपादक कमलेश्वर थे। इस कहानी ने हिंदी पट्टी में एक हलचल-सी मचा दी थी। किसी ने तब यह कल्पना नहीं की थी कि अपने देश में कोख को किराए पर देने का चलन शुरू हो जाएगा और धीरे-धीरे यह एक धंधा ही बन जाएगा। दरअसल उन दिनों समाज में बाज़ारवाद ने इतना घृणित शक्ल नहीं लिया था और स्त्री शोषण के इतने नंगे रूप सामने नहीं आए थे। जैसे-जैसे समाज में पूंजीवाद बढ़ने लगा उस तरह पैसा कमाने की चाह और लालच ने स्त्री के शोषण के नए-नए तरीके भी निकाले।

भारत ही नहीं दुनिया के लगभग हर देश में सरोगेसी एक मानवीय और कानूनी समस्या बनी तो उसके लिए क़ानून बने और दिशा-निर्देश तय हुए। लेकिन लेखकों की नज़र इस समस्या पर पहले से ही थी। उन्होंने इस विषय पर कहानियां, नाटक तब लिखनी शुरू की जब यह समस्या विकराल रूप में नहीं थी। आलम शाह खान की कहानी 'किराए की कोख' के बाद मराठी के मशहूर नाटककार अनिल बर्वे ने इस विषय पर एक नाटक लिखा जिसके आधार पर 1983 में लेख टंडन ने 'दूसरी दुल्हन' फिल्म बनाई। इससे पहले अमरीका में इस विषय पर 1970 में जेम्स ब्रिज की 'बेबी मेकर' नामक फिल्म बन चुकी थी। 2012 में जया चंद्रशेखर ने 'बेबी मेकर्स' नामक एक अंग्रेज़ी फिल्म बनाई जिसमें विदेशी कलाकार थे लेकिन भारत में 'दूसरी दुल्हन' ही पहली फिल्म थी जो सरोगेसी पर आधारित थी। इस फिल्म में विक्टर बनर्जी, शर्मीला टैगोर और शबाना आज़मी जैसे कलाकार थे। जब यह फिल्म बनी तो अमिताभ बच्चन की फिल्मों का ज़माना था। उन दिनों एंग्री यंग मैन का बोलबाला था। शर्मीला टैगोर ज़रूर 'आराधना', 'सफ़र' और 'अमर प्रेम' जैसी फिल्मों के कारण एक बार फिर बुलंदियों पर थीं लेकिन बाकी कलाकारों का स्टार वैल्यू कम था। थीम की दृष्टि से यह एक नई फिल्म थी। इसमें गाने नहीं थे लेकिन भारतीय समाज में सरोगेसी की घटनाएं उतनी प्रचलित नहीं थीं और आज की तरह विदेशी दंपत्ति भारत सरोगेसी के लिए नहीं आते थे। इसके अलावा मीडिया में भी इसको लेकर उतनी बहस भी नहीं थी, शायद यह कारण रहा होगा कि इस फिल्म ने लोगों का विशेष ध्यान नहीं खींचा और यह फिल्म एक तरह से फ़्लॉप रही। चूंकि इस फिल्म का विषय बहुत जटिल और नया

था, आम दर्शकों के गले यह नहीं उतरा। इस फिल्म के आधार पर ही करीब 18- 20 साल बाद 2001 में अब्बास-मस्तान ने 'चोरी-चोरी चुपके-चुपके' और फिर मेघना गुलज़ार ने 'फ़िलहाल' फिल्म बनाई।

ये तीनों फिल्में उच्च मध्यवर्ग से जुड़ी हैं। इनके पात्र इसी वर्ग से आते हैं क्योंकि सरोगेसी पर होने वाले खर्च को वे ही वहन कर सकते हैं। यह समस्या इसी वर्ग की है क्योंकि वे अनाथ-ग़रीब बच्चों को गोद नहीं लेना चाहते हैं। उनकी मध्यवर्गीय मानसिकता आड़े आती हैं। उन्हें अपना वंश चलाने के लिए अपना खून ही चाहिए। वे किसी अन्य व्यक्ति के स्पर्म से संतानोतपित्त के पक्षधर नहीं हैं। अगर कोई उच्च घराने का पुरुष संतान उत्पन्न करने में अक्षम है तभी वह स्पर्म बैंक से स्पर्म लेगा। दरअसल यह समस्या इस मानसिकता से उत्पन्न होती है जब कोई किसी अनाथ बच्चे को गोद नहीं लेना चाहता हो। इन तीनों फिल्मों में समस्या के बारे में गहरा शोध भी नहीं किया गया है। 'दूसरी दुल्हन' में गाने नहीं हैं लेकिन शेष दोनों फिल्मों में गाने और डांस के रूप में फिल्मी लटके भी हैं और विदेशी लोकेशन की शूटिंग भी की गई है ताकि दर्शकों को बांधा जा सके। आमिर खान ने जिस तरह 'लगान' या 'तारे ज़मीं पर' या 'दंगल' फिल्म बनाई अगर वे उसी तरह इस समस्या पर फिल्म बनाते तो शायद स्थिति अलग होती या जिस तरह 'पिंक' फिल्म ने मर्दवादी मानसिकता को उधेड़ने का काम किया है उसी तरह मध्यवर्गीय मानसिकता को उजागर करने और सरोगेसी के धंधे को एक्सपोज़ किया जाता तो बेहतर होता लेकिन नए विषयों पर फिल्म बनाने के ख़तरे भी होते हैं और फिल्मों में पूंजी लगाते हुए निर्माता फिल्मों के बाज़ार और दर्शकों के बारे में अधिक सोचता है। सच तो यह है कि सरोगेसी की समस्या आम नहीं है और इसके दर्शक भी आम नहीं हैं लेकिन स्त्री-विमर्श के नज़रिए से फिल्म बनाना आसान भी नहीं है। भारतीय फिल्मों के इतिहास को देखा जाए तो स्त्री पात्रों और स्त्री से जुड़े विषयों में अब बहुत बदलाव आया है। 'बंदिनी' से 'पिंक' तथा 'पार्च्ड' तक की यात्रा में इस बदलाव को देखा जा सकता है। सरोगेसी की समस्या को भी नए स्त्री-विमर्श के दृष्टिकोण से देखे जाने की ज़रूरत है ताकि जो ग़रीब औरतें सरोगेट मदर बनती हैं उनके दु:ख-दर्द को जाना जा सके।

'चोरी-चोरी चुपके-चुपके' (2001) फिल्म में राज (सलमान खान) और प्रिया (रानी मुखर्जी) पति-पत्नी हैं। जब प्रिया मां नहीं बन पाती तो वो सरोगेट मदर मधु (प्रीति ज़िंटा) की सहायता लेती है। बताया जाता है कि फिल्म की कहानी 1983 में आई 'दूसरी दुल्हन' से ली गई है। फिल्म में इस प्रकरण से जुड़े भावना पक्ष को उकेरा गया था कि मां केवल बच्चा देने वाली मशीन नहीं है। गर्भ में आए शिशु के साथ उसे गहरा लगाव हो जाता है और प्रबल मातृत्व की भावना के कारण वह पहले किए गए अनुबंध से मुकर जाना चाहती है। 'किराए के मकान' की तरह 'किराए की कोख' नहीं होती। सच तो यह है कि लंबे समय तक मकान में रहने पर उससे भी भावनात्मक तादात्म्य हो जाता है। मुद्दे और भी हैं जिन्हें गंभीर रूप से दिखाने की ज़रूरत है।

'फ़िलहाल' (2002) की कहानी दो दोस्त रेवा (तब्बू) और सिया (सुष्मिता) की है। फिल्म में सरोगेसी जैसे विषय पर खुलकर बात की गई है। जब तब्बू शादी के बाद मां नहीं बन पाती तो सुष्मिता अपनी दोस्त की मदद करती है। सारे अनुष्ठान मनुष्य के लिए चक्रव्यूह की तरह रचे गए हैं। यहां तक कि स्वतंत्रता का भी भ्रम रचा गया है। अगर संतान-लोभ का मायाजाल नहीं रचा गया होता तो अनेक दु:खों का जन्म ही नहीं होता। किराए की कोख अवधारणा में इस बात को गौण किया गया है कि कोख में संतान के सोच-विचार की भी रचना होती है। कोख केवल मांस के लोथड़े के निर्माण का कारख़ाना नहीं है। वहां शरीर के साथ सोचने के तौर-तरीके भी बदलते हैं। मां की कोख के संपूर्ण कार्यकलाप की जानकारी आज भी नहीं है। विराट प्रकृति का छोटा रूप है, मां की कोख। वहां पर्वत भी है, नदियां भी हैं, रेगिस्तान भी है। इतने शक्तिशाली और रहस्यमयी अजूबे पर कोई कानून सचमुच लागू हो नहीं सकता। वैसे बॉलीवुड फिल्मों में इस तकनीक को जितना आसान दिखाया गया है, हकीकत में वैसा है नहीं। इसके साथ कई जटिलताएं और विवाद भी हैं।

'आई एम आफ़िया' (2010)–बॉलीवुड में गंभीर विषयों पर फिल्म बनाने वाले निर्देशक ओनिर ने 'आई एम आफ़िया' बनाई थी, जिसमें स्पर्म डोनेशन (शुक्राणु देने) की प्रक्रिया को विस्तार से दिखाया गया है। ओनिर, सरोगेसी मानवता को दिया गया एक वैज्ञानिक उपहार मानते हैं। निस्संतान दंपत्तियों के निराश जीवन में उम्मीद की नई किरण पैदा करने वाली अद्भुत तकनीक। इसमें नंदिता दास ने सरोगेट मदर का किरदार निभाया था। फिल्म में डॉक्टर का रोल डायरेक्टर अनुराग बासु ने निभाया। इस फिल्म ने दर्शकों को झकझोरकर रख दिया था। पति से तलाक के बाद आफ़िया मां बनना चाहती है लेकिन ऐसा बच्चा चाहिए, जिसे वह सिर्फ अपना बच्चा कह सके। लेकिन वह स्पर्म डोनर से मिलना चाहती है, ताकि बच्चे के रंग-रूप के बारे में जान सके। नंदिता दास इस फिल्म में मुख्य किरदार में थीं। 'आई एम आफ़िया' क्राउड फ़ंडिंग से बनी भारत की पहली फिल्म है। ओनिर और संजय सूरी की मेहनत और कोशिश तथा कलाकारों के समर्थन से फिल्म का निर्माण हुआ। इस फिल्म में चार अलग-अलग कहानियां हैं। हर कहानी को अलग नाम दिया गया है। मसलन 'आई एम उमर', 'आई एम अभिमन्यु', 'आई एम आफ़िया'। ये लिंग, जाति, धर्म और प्रदेश से परे व्यक्ति के पहचान और आग्रह की फिल्म है। हम अपनी ज़िंदगी में विभिन्न मजबूरियों की वजह से खुद को एसर्ट नहीं करते। अपना आग्रह नहीं रखते और पहचान के संकट से बिसूरते रहते हैं। आफ़िया, मेघा, अभिमन्यु और उमर के ज़रिए ओनिर ने आधुनिक औरत के मातृत्व के आग्रह, कश्मीर से विस्थापित पंडित के द्वंद्व, सौतेले पिता के शारीरिक शोषण की पीड़ा और वैकल्पिक सेक्स की दिक्कतों के मुद्दों को संवेदनशील तरीके से चित्रित किया है। फिल्म में इन मुद्दों के ग्राफ़िक विस्तार में गए बिना ओनिर संकेतों और प्रतीकों में अपना मंतव्य रखते हैं। वे निष्कर्ष नहीं देते।

ये फिल्में सरोगेसी की मानवीय और मनोवैज्ञानिक पहलुओं की चर्चा करती हैं लेकिन इस समस्या के सामाजिक, आर्थिक पहलुओं की चर्चा नहीं करती हैं। भारत में सरोगेसी का यथार्थ बहुत क्रूर तथा शोषण युक्त है। गुजरात, मुंबई, मध्यप्रदेश, राजस्थान, दिल्ली में सरोगेट मदर की जो दर्दनाक कहानियां सामने आईं उसके आधार पर कोई फिल्म आज तक नहीं बनी। इतना ही नहीं इन फिल्मों में इस सवाल के कानूनी पहलुओं पर भी ध्यान नहीं दिया गया। तीनों फिल्मों में केवल यह दिखाया गया कि एक सरोगेट मदर संतान उत्पन्न करने के बाद उस संतान से भावनात्मक रूप से जुड़ जाती है और बच्चे को नहीं देना चाहती है। यह स्त्री के लिए सहज एवं स्वाभाविक ही है क्योंकि जिस संतान को वह नौ महीने तक गर्भ में रखती है उसी से भावनात्मक रिश्ता स्वाभाविक है, लेकिन तीनों फिल्मों के अंत में दिखाया गया कि सरोगेट मदर ने संतान को निस्संतान दंपत्ति को सौंप दिया। यह हिंदी फिल्मों के सुखद अंत की परंपरा को दर्शाने के लिए किया गया लेकिन इस समस्या का केवल यही अंत नहीं है। ❑



मध्य प्रदेश के दमोह में जन्मे। परवरिश भोपाल, सागर समेत अनेक शहरों में। 'दैनिक भास्कर' में लगातार दस वर्ष संगीत पर कॉलम 'स्वरपंचमी'। रेडियो पर तमाम मशहूर शख़्सियतों के लंबे इंटरव्यू। विज्ञान, मीडिया और संगीत पर लगातार लेखन और ब्लॉगिंग। 'रेडियोवाणी' और ऑडियो ब्लॉग 'कॉफ़ी हाउस' काफ़ी लोकप्रिय। विविध भारती सेवा में उद्घोषक।

दिल हूम हूम करे

यूनुस ख़ान

बीते दिनों 23 सितंबर को कल्पना लाज़मी का देहांत हो गया। वो कैंसर से जूझ रही थीं। कल्पना लाज़मी का जाना हिंदी फिल्म जगत का एक बड़ा नुकसान है। बहुत बरस पहले एक धारावाहिक आया था 'लोहित किनारे'। ये दूरदर्शन का ज़माना था। मुमकिन है आपको ये धारावाहिक याद भी हो। इसका शीर्षक गीत शायद भूपेन हजारिका ने गाया था। असम की कहानियों पर केंद्रित ये धारावाहिक बनाया था कल्पना लाज़मी ने। और ये कल्पना लाज़मी से हमारा पहला परिचय था। अफ़सोस की बात ये है कि अब ना वो दिन रहे, मासूम धारावाहिकों और सार्थक टीवी के और ना ही अब ऐसे धारावाहिक बनाने वाले फिल्मकार रहे।



भूपेन हज़ारिका और आशा भोंसले के साथ कल्पना लाज़मी

कल्पना लाज़मी को मुख्यत: 1993 में आई फिल्म 'रुदाली' के लिए याद किया जाता है। असल में 'रुदाली' ज्ञानपीठ से सम्मानित बंगाल की प्रसिद्ध लेखिका महाश्वेता देवी की एक कहानी पर आधारित फिल्म थी और इसे गुलज़ार ने लिखा था। 'रुदाली' डिंपल कपाड़िया राखी, अमजद ख़ान और राज बब्बर के अभिनय से सजी एक सघन फिल्म थी और इसकी सघनता को बढ़ाते थे इसके गीत-जिन्हें गुलज़ार ने लिखा था। इसमें एक तरफ़ 'दिल हूम हूम करे' जैसे गीत के लता और भूपेन दा वाले वर्जन हैं तो दूसरी तरफ़ 'समय ओ धीरे चलो' जैसा कलेजा चीरने वाला गीत है। फिल्म का जो सबसे अद्भुत गीत है- वो है 'झूठी मूठी मितवा आवन बोले'। 'रुदाली' के गीत सचमुच उदास करते हैं। आपके ज़ेहन में सुरमई अहसास भर देते हैं। ये हिंदी सिनेमा की सबसे सघन गीतों वाली फिल्म कही जानी चाहिए।

डिंपल ने इस फिल्म में कमाल का काम किया था। फिल्म के अंत में भिखनी यानी राखी की मौत की ख़बर जब शनीचरी को मिलती है तो उसका जिस तरह का बिलखना दिखाया गया है- वो कलेजा चीर देता है। असल में सनीचरी को पता चलता है कि भिखनी उसकी मां पिवली थी। ये- दृश्य फिल्म को एक नई ऊंचाई पर ले जाकर खड़ा कर देता है। इसे केवल देखकर समझा जा सकता है। दिलचस्प है कि 'रुदाली' में सनीचरी का किरदार निभाने वाली डिंपल को सर्वश्रेष्ठ अभिनेत्री का राष्ट्रीय पुरस्कार मिला था। इसके बाद सन् 2001 में फिल्म 'दमन' में अभिनय के लिए रवीना टंडन को भी राष्ट्रीय पुरस्कार मिला। 'दमन' में रवीना ने एक ऐसी स्त्री का किरदार निभाया था, जिसे उसका पति स्वीकार नहीं करता और उसे बहुत सताता है। अंतत: वो उसकी हत्या कर देती है। 'दमन' में कल्पना लाज़मी ने नारी का 'शक्ति रूप' दिखाया था।

कल्पना लाज़मी का जन्म 1954 में हुआ था, वो जानी-मानी पेंटर ललिता लाज़मी की बेटी थीं। ललिता लाज़मी यानी जाने-माने फिल्मकार गुरुदत्त की बहन। अपनी शुरुआती पढ़ाई-लिखाई के बाद वो किसी ज़माने में 'भूमिका' और 'मंडी' जैसी फिल्मों में श्याम बेनेगल की सहायक निर्देशक रहीं। और आगे चलकर उन्होंने सन् 1977 में फिल्म 'भूमिका' के लिए असिस्टेंट कॉस्टयूम डिज़ाइनर के तौर पर काम भी किया। कल्पना डॉक्यूमेंट्री की दुनिया से फिल्मों की दुनिया में आई थीं। चाय के बागानों और ब्रह्मपुत्र पर उन्होंने महत्वपूर्ण वृत्त-चित्र बनाए। फिल्मों में उनका पहला क़दम था 'एक पल' के ज़रिए। 'एक पल' असल में बांग्ला की जानी-मानी उपन्यासकार और कवयित्री मैत्रेयी देवी की कहानी पर आधारित थी। मैत्रेयी देवी को उनके उपन्यास 'न हन्यते' के लिए साहित्य अकादमी से सम्मानित किया जा चुका है। कहते हैं कि 'हम दिल दे चुके सनम' के पीछे यही उपन्यास प्रेरणा रहा था। बहरहाल...'एक पल' में शबाना आज़मी

***संपर्क** : 801, कासा बोलिसिमो, प्लॉट नं. 9, गोराई-3, बोरिवली पश्चिम, मुंबई-400092 मो. 9892186767*

और नसीर ने काम किया था। ये अपने समय से पहले की फिल्म थी। कल्पना लाज़मी ने इस फिल्म के ज़रिए निर्देशन की दुनिया में अपने स्त्रीवादी तेवर के साथ क़दम रखा था। नायिका अपनी शादी और पति से खुश नहीं है और फ़ैसला करती है कि वो अपने प्रेमी के ज़रिए अपने बच्चे को जन्म देगी। इस फिल्म में कल्पना लाज़मी ने उस ज़माने में ये सवाल उठाया था कि अपनी मर्ज़ी से बच्चे पैदा करना एक स्त्री की आज़ादी है।

'एक पल' के गीत गुलज़ार ने लिखे थे। संगीत भूपेन हज़ारिका का था। फिल्म में एक बड़ा ही मार्मिक गीत था। 'ज़रा धीमे, ज़रा धीरे लेकर जैहो डोली/बड़ी नाज़ुक मेरी जाई मेरी बहना भोली'। इसे गाया था भूपिंदर सिंह, भूपेन हज़ारिका, उषा मंगेशकर और हेमंती शुक्ला ने। हिंदी के बहुत भीगे हुए विदाई गीतों में इसकी गिनती होती है।

पुरुष निर्देशकों की भीड़ में भारतीय सिनेमा को जिन महिला फिल्मकारों ने समृद्ध किया है उनमें अपर्णा सेन, सई परांजपे, मीरा नायर के साथ कल्पना लाज़मी का नाम बहुत सम्मान से लिया जाता है। कल्पना लाज़मी हमेशा अपने इंटरव्यू में कहती थीं कि उनके पास ना तो सिनेमा की पृष्ठभूमि थी और ना ही कोई अनुभव। उन्होंने अपनी मेहनत से अपनी जगह बनाई थी। उनका कहना था कि फिल्म उद्योग पुरुष प्रधान है- वो महिला को कैमेरे के सामने देखना ही पसंद करता है, जब महिला कैमरे के पीछे सिनेमा को काबू करने लगती है तो ये उसे पसंद नहीं आता। उनकी बेबाकी उनकी ख़ासियत थी और ये उनके जीवन और उनकी फिल्मों में भी नज़र आती है। सन् 1997 में आई उनकी फिल्म् 'दरमियां' जैसी फिल्म जो 'किन्नर' जीवन की उलझनों को दिखाती है- अपने समय से बहुत आगे की फिल्म थी। ठीक इस युग में यह फिल्म दोबारा देखे जाने की मांग करती है। इस फिल्म में आरिफ़ ज़करिया ने ज़बर्दस्त काम किया था। 'दरमियां' में परिवार का इम्मी को लगातार ये यक़ीन दिलाना कि वो 'मर्द' है और फिर एक दिन एक हिजड़ा चंपाबाई का इसलिए उसे लेने आना कि वो 'उनकी' तरह है। इस तरह के तमाम मार्मिक प्रसंग हैं जो आपको परेशान करते हैं और इस यथार्थवादी फिल्म को और 'बड़ा' बनाते हैं। ख़ासतौर पर मां का ज़ोर देकर इम्मी को वेश्या के साथ रात गुज़ारने पर मजबूर करने वाला प्रसंग।

भूपेन हजारिका और उनका साथ एक मिसाल रहा है। एक बहुत ही अनोखा रिश्ता- जिसे कोई नाम देना इसे छोटा करना होगा। सत्रह बरस की उम्र में उन्हें भूपेन हजारिका से लगाव हो गया था। हजारिका उनसे 28 बरस बड़े थे। जैसाकि आप जानते हैं कल्पना लाज़मी गुरुदत्त की भांजी थीं। ये तकरीबन 1971 की बात है। गुरुदत्त के ही भाई यानी उनके एक और मामा और 'उमंग', 'आरोप', 'चंदा और बिजली' जैसी फिल्मों के मशहूर निर्देशक आत्माराम एक बार भूपेन हजारिका का रिकॉर्ड लेकर आए थे। उस दिन सारा परिवार इकट्ठा हुआ था और रात्रि-भोज पर आत्मा रामजी ने सबसे कहा था कि ज़रा इस आवाज़ को सुनो, कितनी प्रभावी और मार्मिक है। युवा कल्पना को ये आवाज़ तो बड़ी पसंद आई पर समझ कुछ नहीं आया क्योंकि ये गीत असमिया भाषा में थे। फिर एक दिन आत्मारामजी भूपेन हजारिका को कल्पना लाज़मी के घर ले गए। जहां एक महफ़िल में माचिस की डिब्बी पर ताल देते हुए भूपेन दा ने अपने गीत सुनाए। इन गानों ने कल्पना लाज़मी



फिल्म : 'रुदाली'

को इतना सुकून दिया कि वो सो ही गईं। उन दिनों में कल्पना लाज़मी मुंबई में 'काला घोड़ा' नामक इलाक़े के प्रसिद्ध 'रिद्म हाउस' में जातीं और भूपेन दा के रिकॉर्ड सुना करती थीं। अब रिद्म हाउस भी नहीं रहा।

ये वो दिन थे जब कल्पना लाज़मी में इतना साहस न था कि वो भूपेन हजारिका, फिल्म 'रुदाली' में डिंपल कपाड़िया के प्रसिद्ध गायक और कवि से, अपने दिल की बात कह दें। फिर 19 बरस की उम्र में एक मौक़ा ऐसा भी आया जब कल्पना लाज़मी कोलकाता आकर रहने लगीं। उन दिनों कल्पना लाज़मी दादा साहेब फालके पुरस्कार से सम्मानित बांग्ला के प्रसिद्ध फिल्मकार धीरेननाथ गांगुली पर अपने वृत्त चित्र की तैयारी कर रही थीं। इन्हीं दिनों वो मैत्रेयी देवी के संपर्क में आईं। वो फिल्म-संसार में नई थीं और मैत्रेयी देवी के उपन्यायस 'न हन्यते' पर फिल्म बनाना चाहती थीं पर उन्हें इसके अधिकार न मिल सका। बाद में मैत्रेयी देवी ने अपनी कहानी 'बिधि ओ बिधाता' के अधिकार कल्पना को दिए और उन्होंने इस पर अपनी पहली फिल्म बनाई 'एक पल' जिसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। चाय बागान के मालिक और भूपेन हजारिका के दोस्त हेमेन बरूआ इसके निर्माता थे। 'एक पल' की पटकथा, संवाद और गीत गुलज़ार ने लिखे थे और संगीत भूपेन हज़ारिका का था। यही वो दिन थे जब भूपेन दा और कल्पना लाज़मी करीब आए।

19 बरस की उम्र तक आते-आते कल्पना भूपेन दा के साथ रहने भी लगी थीं। ये अद्भुत प्रेम था। डॉ. हजारिका के निधन तक हर पल वो उनके साथ रहीं। उनकी देखभाल की और अपने इस अनमोल रिश्ते की गरिमा को क़ायम रखा। जब तक भूपेन दा रहे, एक फिल्मकार के तौर पर कल्पना लाज़मी का ताव कायम रहा। उन्होंने एक बार कहा था-"भूपेन हजारिका मेरे लिए आसरा थे, एक छतरी थे, सहारा थे, उनके जाने के बाद मेरे भीतर काम करने का उत्साह नहीं रहा। आज मैं एक स्वतंत्र फिल्मकार के रूप में जो कुछ हूं उनकी वजह से हूं"। भूपेन हजारिका पर कल्पना लाज़मी ने एक पुस्तक भी लिखी थी 'As I Knew Him'.

कल्पना लाज़मी का सिनेमा एक स्वतंत्र नारी का सिनेमा है। चाहे 'एक पल' हो, 'रुदाली' 'दरमियां' या 'दमन'। उनकी फिल्मों की नायिकाएं समाज के भयानक मकड़जाल के बीच अपने हालात से जूझती हैं और अपने फ़ैसले खुद करती हैं। उनकी फिल्में अपने समय से आगे का सिनेमा हैं। उन्होंने सतर्कता के साथ ऐसे विषय चुने, जिनमें सशक्त स्त्री की छवि उभरकर सामने आई। कल्पना लाज़मी को नमन! ❑



पिछले 40 वर्षों से अधिक से लेखन-पत्रकारिता में सक्रिय। वरिष्ठ फिल्म समीक्षक और टीवी पैनेलिस्ट होने के साथ 'पुनर्वास' साप्ताहिक के संपादक। देश में टेलीविजन पर सर्वप्रथम नियमित पत्रकारिता की शुरुआत करने एवं देश में सबसे कम उम्र के संपादक होने का श्रेय।

अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोह

और सिनेमा का बाज़ार

प्रदीप सरदाना

गोवा एक बार फिर अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोह के स्वागत के लिए तैयार है। 20 नवंबर से 28 नवंबर तक यहां 49 वे भारतीय अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोह का आयोजन होने जा रहा है। इस फिल्म समारोह की ख़ास बात यह भी है कि यह भारत का ही नहीं एशिया का सबसे पुराना अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोह है। अपने आयोजन की इस लंबी यात्रा में भारतीय अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोह में अपनी गरिमा बनाते हुए जो लोकप्रियता पाई है वह किसी से छिपी नहीं है। आज देश दुनिया के लोग बेताबी से सालभर इस समारोह की प्रतीक्षा करते हैं।

भारत कई वर्षों से विश्व में सर्वाधिक फिल्म बनाकर विश्व फिल्म मानचित्र पर अपना नाम शिखर पर बनाए हुए है। साथ ही अब अब हमारी फ़िल्में तकनीक और भव्यता के मामले में भी दिन-प्रतिदिन आगे बढ़ रही हैं। हाल ही के बरसों में हमारी कुछ फिल्मों ने कमाई के मामले में भी वैश्विक स्तर पर जिस तरह हॉलीवुड को टक्कर देकर नया इतिहास रचा, वह सभी को चौंका रहा है। यदि ध्यान से देखा जाए तो इस सफलता में कहीं-न-कहीं ऐसे फिल्म समारोहों की भी अहम भूमिका है।



फिल्म : 'एमएस धोनी'

देश में प्रथम भारतीय अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोह का आयोजन सन् 1952 में हुआ था। हालांकि 24 जनवरी से 1 फरवरी 1952 के दौरान मुंबई में आयोजित यह 9-दिवसीय फिल्म समारोह ग़ैर प्रतियोगी होने के साथ व्यापक स्वरूप में नहीं था लेकिन इसके आयोजन का उद्देश्य स्पष्ट था कि भारत में देश-विदेश के फिल्मकारों को एक ऐसा साझा मंच उपलब्ध कराया जा सके जहां सभी एक-दूसरे देश की फ़िल्में देख सकें, दुनियाभर के फिल्मकार साथ बैठकर फिल्मों से जुड़े मसलों पर चर्चा कर सकें। एक-दूसरे की कला-संस्कृति को जान सकें, उसका परस्पर आदान-प्रदान कर सकें। साथ ही इससे भारतीय फिल्मों को विश्व मंच पर अपनी जगह बनाने में भी सहायता मिल सके। इस प्रथम समारोह में कुल 23 देशों की 40 फीचर फ़िल्में और करीब 100 लघु फ़िल्में प्रदर्शित हुई थीं। आज हमारा यह फिल्म समारोह कितना आगे बढ़ चुका है इसकी मिसाल इस बात से भी मिलती है कि इस समारोह को जहां 'ए' ग्रेड प्राप्त है, वहां सन् 2016 में इस समारोह के लिए 102 देशों की 1032 फिल्मों की प्रविष्टियां प्राप्त हुई थीं। पिछले वर्ष भी इसी के आसपास प्राप्त प्रविष्टियों में से 83 देशों की करीब 200 फिल्मों का चयन गोवा फिल्म समारोह के लिए हुआ था।

जब भारत सन् 1952 में अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोह की शुरुआत हुई तब एशिया में तो कोई और ऐसे फिल्म समारोह का आयोजन नहीं होता था लेकिन वैश्विक स्तर पर कुछ अन्य बड़े फिल्म समारोह की काफ़ी धूम थी जिनमें सन् 1932 से आरंभ हुआ वेनिस फिल्म समारोह सबसे पुराना होने के साथ काफ़ी लोकप्रिय भी था। साथ ही 1946 में शुरू हुए कांस, कार्लोवीवारी साथ लोकार्नो फिल्म समारोह भी तब तक अच्छे-ख़ासे लोकप्रिय हो चुके थे। इसलिए तब कुछ लोगों को आशंका थी कि इतने बड़े और नामी अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोहों के सामने हमारा यह फिल्म समारोह न तो उनका कोई मुकाबला कर सकेगा और न ही यह लंबी यात्रा तय कर सकेगा। शुरू में यह आशंका तब सच होती दिखाई देने लगी जब प्रथम समारोह के बाद 8 साल बाद तक भारत दूसरे फिल्म समारोह का आयोजन देश में नहीं करा सका। फिर जैसे-तैसे 27 अक्तूबर से 2 नवंबर 1961 को नई दिल्ली में दूसरा फिल्म समारोह आयोजित हो सका लेकिन तीसरे समारोह के लिए फिर से 4 बरस का इंतज़ार करना पड़ा। नई दिल्ली में तीसरा फिल्म समारोह से 8 से 21 जनवरी 1965 के बीच आयोजित हुआ। लेकिन चौथे फिल्म समारोह के लिए भी भारत को फिर से 4 साल की प्रतीक्षा करनी पड़ी। वह समारोह 5 से 18 दिसंबर 1969 के दौरान नई दिल्ली में हुआ। जबकि पांचवां समारोह 30 दिसंबर 1974 से 12 जनवरी 1975 तक नई दिल्ली में हुआ हालांकि तीसरे समारोह के साथ ही भारतीय अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोह का चेहरा-मोहरा कुछ संवरने लगा। तीसरे फिल्म समारोह से यह ग़ैर प्रतियोगी समारोह प्रतियोगी बन गया, जिससे विदेशी फिल्मकारों के मन में इस समारोह के लिए आकर्षण बढ़ना शुरू हो गया लेकिन 1975 के पांचवें फिल्म समारोह से इसका स्वरूप काफ़ी हद तक स्पष्ट और निश्चित हो गया। जब इसे एक साल फिल्मोत्सव के रूप में ग़ैर

***संपर्क** : 22, हरि विला, विकास मार्ग, लक्ष्मी नगर, दिल्ली-110092*
मो. 8810529765

प्रतियोगी फिल्म समारोह के रूप में देश के उन शहरों में बारी-बारी से मनाने का फ़ैसला लिया गया जहां फिल्म निर्माण होता है। साथ ही हर दूसरे वर्ष प्रतियोगी फिल्म समारोह के रूप में नई दिल्ली में मनाने की परंपरा को भी निश्चित कर दिया लेकिन सन् 2004 से फिल्म समारोह का स्थायी स्थल प्रति वर्ष के लिए गोवा कर दिया गया, साथ ही फिल्मोत्सव को भी भारतीय अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोह में विलय कर इसे एक ही वार्षिक फिल्म समारोह कर दिया गया। तभी से यह नियमित रूप से प्रति वर्ष गोवा में आयोजित हो रहा है।

समारोह ने शुरुआत से अब तक कई रंग बदले, कभी इसके आयोजन स्थल में बदलाव हुआ, कभी इसकी आयोजन तिथियों ही नहीं इसकी अवधि में भी बदलाव हुआ। कभी इस समारोह के प्रति मुंबई के हिंदी सिनेमा के बड़े फिल्मकार और स्टार कलाकारों ने अपनी बेरुख़ी दिखाई तो कभी बढ़-चढ़ कर हिस्सा लेकर समारोह में चार चांद भी लगाए। इतने बरसों में समय के साथ-साथ समारोह को लेकर कई अन्य बदलाव भी होते रहे पर अच्छी बात यह है कि हमारे समारोह की गरिमा बरकरार रही। साल दर साल नए और प्रतिष्ठित दोनों किस्म के फिल्मकारों ने समारोह में अपनी और अपनी फिल्मों की भागीदारी दर्ज करते हुए, समारोह में अपना विश्वास कायम किया। साथ ही भारतीय फिल्मों को विश्व में एक बड़ा मंच प्रदान करने के साथ उनके लिए बड़ा बाज़ार भी उपलब्ध कराया।

गत वर्ष आयोजित 48वें फिल्म समारोह को ही देखें तो यहां पर 10 फिल्मों के वर्ल्ड प्रीमियर, 10 फिल्मों के एशिया प्रीमियर और लगभग 65 भारतीय फिल्मों के प्रीमियर भी आयोजित हुए। यह किसी भी अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोह की सफलता इस बात पर भी निर्भर करती है कि कितनी फिल्मों के वर्ल्ड प्रीमियर हुए यानी कितने फिल्मकारों ने अपनी फिल्म की पहली स्क्रीनिंग उस फिल्म समारोह में की। दूसरा यह भी अहम् है कि फिल्म समारोह में सिनेमा-जगत की मुख्य धारा के कितने कलाकार शामिल हुए। पिछले बरस नवंबर में इस समारोह में अमिताभ बच्चन, श्रीदेवी, शाहरुख़ खान, सलमान खान, कटरीना कैफ़, शाहिद कपूर, राज कुमार राव, राधिका आप्टे और अनुपम खेर सहित ए आर रहमान, सुभाष घई और विशाल भारद्वाज आदि ने भी 48वें फिल्म समारोह में हिस्सा लिया।



फिल्म : 'विलेज रॉकस्टार'

भारतीय अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोह की एक विशेषता यह भी है कि यहां एक स्थान पर नई से नई और पुरानी से पुरानी और सर्वश्रेष्ठ फ़िल्में देखने का मौका मिलता है। पीछे इस फिल्म समारोह में वे 26 फ़िल्में भी यहां एक ही स्थल पर देखने को मिलीं, जिन्हें उनके देशों ने ऑस्कर के लिए नामांकित किया था। इनके अतिरिक्त यहां जहां दुनिया भर की चर्चित फ़िल्में होती हैं वहां हमारे देश की विभिन्न भाषाओं में बनने वाली छोटी-बड़ी सभी फ़िल्में भी। समारोह का सबसे बड़ा आकर्षण अंतरराष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा खंड रहता है लेकिन विश्व सिनेमा, फ़ोकस, पुनरावलोकन, श्रद्धांजलि और भारतीय सिनेमा जैसे कुछ अन्य खंड भी बेहद ख़ास रहते हैं। भारतीय सिनेमा जिसे इंडियन पेनोरमा के नाम से भी जाना जाता है, भारतीय फिल्मकारों का बेहद पसंदीदा खंड है। समारोह में इस खंड की शुरुआत 1978 में की गई थी। इसमें यूं अक्सर 22 भारतीय फ़िल्में रखने की परंपरा थी लेकिन अब इसमें 4 लोकप्रिय और व्यावसायिक दृष्टि से अत्यंत सफल फिल्म भी साथ रखने से इसमें 26 फिल्मों को लिया जा रहा है।

इस बार जुड़ेंगे कुछ और खंड

इस 49वें फिल्म समारोह में बार 6 नए खंड जुड़ने का प्रस्ताव है जिसमें एक नया खंड 'खेलो इंडिया' की तर्ज़ पर 'स्पोर्ट्स बायोपिक' का शुरू किया जा रहा है जिसमें देश-विदेश की हाल ही में प्रदर्शित वे फ़िल्में दिखाई जाएंगी जो खिलाड़ियों के जीवन पर बनी हैं। असल में हमारे यहां पिछले कुछ बरसों में खिलाड़ियों की ज़िंदगी पर बनी 'चक दे इंडिया', 'भाग मिल्खा भाग', 'एमएस धोनी' और 'दंगल' जैसी फ़िल्में काफ़ी सफल रही हैं। इसलिए ऐसी फिल्मों के लिए विशेष खंड रखकर लोगो को खेल और खिलाड़ियों के प्रति आकर्षित भी किया जा सकेगा। इसके साथ इस बार दादा साहब फाल्के पुरस्कार विजेता खंड में विनोद खन्ना की कुछ चुनिंदा फिल्मों का प्रदर्शन भी होगा। साथ ही शशि कपूर की भी ख़ास फिल्मों को इसी वर्ग में दिखाने की योजना है। यूं पिछले दिनों दोनों दिवंगत फाल्के विजेता को पिछले बरस ही श्रद्धांजलि दी जा चुकी है लेकिन इस बार इन दोनों की कई फ़िल्में दिखाने की योजना है।

सिनेमा का बाज़ार

किसी भी अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोह की सफलता इस बात पर भी निर्भर करती है कि उस समारोह में कितनी फिल्मों को बाज़ार मिला। कितनी बनी हुई फ़िल्में बिकने के बाद उनका विदेशों में प्रदर्शन संभव हुआ या फिर कितनी कहानी-पटकथाओं को यहां ख़रीद कर उन पर फिल्म बनाना संभव हो सका। यह कुछ ऐसे ही है जैसे कहीं कोई चित्र प्रदर्शनी लगी या कोई अन्य आभूषण, वस्त्र या किसी अन्य उत्पाद की। उसे देखने तो बहुत लोग आए लेकिन यदि अधिकतर लोग वे सब देखकर, तारीफ़ करके चले गए परंतु किसी ने कुछ ख़रीदा नहीं तो बात भला कैसे बनेगी! यही सब ध्यान में रखते हुए भारतीय अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोह में बरसों पहले ही अलग से एक 'फिल्म मार्किट' की स्थापना की थी। जहां इस फिल्म समारोह का आयोजन भारतीय फिल्म समारोह निदेशालय करता है वहां फिल्म मार्किट का आयोजन राष्ट्रीय फिल्म विकास निगम यानी एनएफ़डीसी करता रहा है लेकिन पहले इसके बहुत अच्छे परिणाम देखने को नहीं मिल रहे थे। यह देखते हुए सन् 2007 में राष्ट्रीय फिल्म विकास निगम ने ही फिल्म समारोह में 'फिल्म बाज़ार' नाम से एक नया बड़ा और कुछ परिवर्तित मंच स्थापित किया। अब 9-दिवसीय इस फिल्म समारोह में, 20 नवंबर से 24 नवंबर को 'फिल्म बाज़ार' का विशेष आयोजन करके इस पर अलग से फ़ोकस किया जा रहा है।

गोवा के बहुत ही खूबसूरत समुद्र किनारे बने मेरिअट रिसोर्ट, पणजी, गोवा में आयोजित होने वाला यह 'फिल्म 'बाज़ार' दक्षिण एशिया का सबसे बड़ा फिल्म बाज़ार है। जहां हर कोई जाने के लिए उत्सुक रहता है। इस बाज़ार में दक्षिण एशियाई विषय और समुदाय पर बनी फिल्मों को विशेष महत्व दिया जाता है। पिछले बरस यहां 37 देशों से 178 और भारत से 832 फिल्म प्रतिनिधि सहित कुल 1010

प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया। इस फिल्म बाज़ार से हर बरस करीब 200 फ़िल्में जुड़ने से इस बाज़ार की प्रासंगिकता बढ़ रही है।

यदि देखा जाए तो गत वर्ष अपनी स्थापना के 10 वर्ष पूरे कर चुका यह 'फिल्म बाज़ार' फिल्मकारों के लिए एक वरदान बन कर उभरा है। जहां फिल्म विधा या फिल्म व्यवसाय के किसी भी क्षेत्र से जुड़े व्यक्तियों के सपनों को यहां पंख मिलते हैं। ऐसे पंख जिनसे वह भारतीय सिनेमा ही नहीं विश्व सिनेमा के क्षितिज में भी अपनी उड़ान भर सकता है। नए फिल्मकारों के लिए फिल्म बाज़ार असल में एक ऐसा स्वर्ग है जहां उन्हें हर प्रकार की सुविधा उपलब्ध हैं। यदि किसी के पास अपनी बनी हुई फिल्म है लेकिन उसे बाज़ार नहीं मिल रहा, वह उसे प्रदर्शित नहीं कर पा रहा तो फिल्म बाज़ार में वह अपनी फिल्म की स्क्रीनिंग करके अपनी फिल्म के लिए वितरक और बाज़ार प्राप्त कर सकता है। किसी के पास कहानी है तो वह उसे यहां आए फिल्मकारों या फाइनेंसर्स को सुनाकर अपने फिल्म के लिए निर्माता और वितरक दोनों ढूंढ सकता है। यहां तक कि यदि कोई व्यक्ति फिल्म का निर्देशन करना चाहता है तो वह भी यहां आये विभिन्न फिल्म प्रतिनिधियों से मिलकर अपने सपनों को पूरा कर सकता है। साथ ही इस समारोह में देश-विदेश से आए फिल्म प्रतिनिधि, एजेंट्स, पर्यटन अधिकारी अपने अपने क्षेत्र की ऐसी ऐसी फिल्म लोकेशन को भी बताते-दिखाते हैं जहां फिल्मकारों को अपनी ऐसी मनचाही लोकेशन कुछ क्षणों में शूटिंग के लिए मिल सकती है, जिसकी तलाश में लंबा समय लग जाता है। हमारे देश से भी महाराष्ट्र, गुजरात, लक्षदीप, कर्नाटक, तेलंगाना, उत्तर प्रदेश, दिल्ली, राजस्थान, मध्य प्रदेश से आये राज्य और पर्यटन अधिकारीयों ने अपने अपने क्षेत्र की लोकेशन को प्रमोट करके फिल्मकारों को वहां शूटिंग के लिए आमंत्रित किया।

इतने बरसों में यह फिल्म बाज़ार कितने ही नए-पुराने फिल्मकारों को नई ज़िंदगी दे चुका है। देश-विदेश के कई फिल्म समारोह में प्रशंसा के साथ कई पुरस्कार जीत चुकी कन्नड़ फिल्म 'तिथि' के निर्देशक राम रेड्डी सहित कई फिल्मकारों का मानना है कि वे इस फिल्म बाज़ार की संतान हैं, जहां उनके फिल्म करियर का जन्म हुआ।

यह फिल्म बाज़ार कितना सशक्त है, उसकी मिसाल इस बात से भी मिलती है कि एक असमिया फिल्म 'विलेज रॉकस्टार' को फिल्म बाज़ार के 'व्यूइंग रूम' में पहली बार सन् 2016 में प्रदर्शित किया गया। इसके बाद इसे एक-एक करके सभी का ऐसा साथ मिलता गया कि इसका चयन टोरंटो, कांस और स्पेन के फिल्म समारोह के लिए हुआ। अगले बरस इसका फिल्म समारोह के इंडियन पेनोरमा सहित भारतीय अंतरराष्ट्रीय बाल फिल्म समारोह के लिए भी चयन हो गया। इसके बाद इसे बाल फिल्म समारोह और फिर राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार समारोह में भी कई पुरस्कार मिले। यहां तक इस वर्ष 'विलेज रॉकस्टार' भारत की ओर से ऑस्कर के लिए भी नामांकित किया गया है। यानी फिल्म बाज़ार के मंच पर पहुंचने के बाद इस फिल्म के लिए सफलता के कई नए मार्ग मिलते चले गए। यह सब दर्शाता है कि यह फिल्म समारोह दर्शकों और फिल्मकारों दोनों के लिए सार्थक सिद्ध हो रहे हैं। ❑

हिंदी फिल्म संगीत...

पृष्ठ 14 से आगे...

आकर्षित करने के लिए यह पर्याप्त है। एक समझदार श्रोता द्वारा घटिया या डुप्लीकेट सामग्री के घटकों पर चिंतन, विचार या विश्लेषण कर इसे अस्वीकार करने का जोखिम इस तरीके से बहुत कम हो जाता है।

फिर भी अब थोड़े बेहतर संगीत का अर्थ अब का न केवल पश्चिम बल्कि तेज़ी से पाकिस्तान और मध्य-पूर्व और दक्षिण-पूर्व एशिया व दक्षिण कोरिया का प्रभाव और उधार है, बल्कि अगर एक तरफ़ से अनु मलिक या प्रीतम जैसे संगीतकारों पर वहां के संगीत का पूरी तरह से चोरी का आरोप लगाया गया है तो दूसरी तरफ़ इन्होंने कुछ रचनात्मक प्रयोग भी किए हैं और फिल्म संगीत में नए स्वर और धुनें बनाई हैं जबकि शांतनु मोइत्रा जैसे संगीतकार और स्वानंद किरकिरे जैसे गीतकार ने 'हज़ारों ख़्वाहिशें ऐसी' फिल्मों में अच्छी कविता और संगीत की उल्लेखनीय परिष्कृत मिक्षण का प्रदर्शन किया है। ए.आर. रहमान और एम.एम. करीम जैसे गीतकारों ने सूफ़ी प्रभावों और उच्च स्तर की इस्लामी भक्ति अभिव्यक्तियों का उपयोग मूल रूप से 'चल छैयां छैयां' ('दिल से', 1997), 'मुझे रंग दे रंग दे' ('तक्षक', 1999), 'धुआं धुआं' और 'नूर-उन-अल नूर' ('मीनाक्षी', 2004 और 'हम यहां तुम यहां' (ज़ख़्म', 1998) जैसी सुंदर रचनाएं बनाई हैं। एक प्रवृत्ति जो इस दिन हिमेश रेशमिया के हौंटिंग गीत 'मैं जहां रहूं' ('नमस्ते लंदन') और साजिद-वाजिद की संगीत प्रस्तुति 'तेरे मस्त मस्त दो नैन' ('दबंग', 2010)। रहमान ने दिल से फिल्म में डोब्रो गिटार और अपनी रचना 'टेलिफोन टेलीफोन' में अरबी के वाद्ययंत्र ऊद जैसे नए वाद्ययंत्रों का ख़ूबसूरती से इस्तेमाल किया। इसी प्रकार शंकर-एहसान-लोय ने ग्रामीण स्कॉटलैंड की पब संस्कृति की संगीत प्रेरणा का इस्तेमाल 'दिल चाहता है' के गीतों के लिए किया, और यहां तक कि 'जाने क्यों' फिल्म के एक हिट गीत के लिए ऑस्ट्रेलियन गेरिदू का प्रयोग किया। शंकर-एहसान-लोए। जैसे संगीतकार एक तरफ़ तो नए एन.आर. आई. और कॉर्पोरेट दर्शकों की रुचि और संवेदनशीलताओं की गणना करने में कुशल हैं और कुछ कद तक दूसरी ओर, भारतीय मानसिकता और वैश्वीकरण और पारंपरिक जड़ों को थामे रखने वाले मूल्यों के लिए संगीत में कुछ स्थान बनाने की कोशिश करते हुए लोक के मिश्रण वाले खूबसूरत गीत जैसे 'कजरारे कजरारे' ('बंटी और बुबली', 2005) दिए हैं- कुछ ऐसा ही जैसा विशाल भारद्वाज ने 'ओंकारा' (2006) फिल्म के 'नमक इश्क का' और 'बीडी जलाई ले' में आधुनिक भारत की लोकप्रिय क़स्बाई संस्कृति के विशिष्ट उदाहरणों के रूप में समकालीन संगीत के साथ लोक के मिश्रण को और भी सराहनीय तरीके से किया है। ❑

प्रस्तुति : **विपिन चौधरी**

आवश्यक सूचना

चंदा भेजने और चंदे के बारे में पूछताछ के लिए अथवा पत्रिका प्राप्त न होने की स्थिति में कृपया वितरण एवं विज्ञापन व्यवस्थापक से सीधे संपर्क करें।

पता : वितरण एवं विज्ञापन व्यवस्थापक
प्रकाशन विभाग, कमरा नं. 56, सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्पलेक्स, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003
फोन नं. : 011-24367453
ई-मेल : pdjucir @ gmail.com

विष्णु खरे की आलोचकीय अंतर्दृष्टि

प्रचण्ड प्रवीर



युवा कथाकार। 2005 में भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, दिल्ली से रासायनिक अभियांत्रिकी में प्रौद्योगिकी स्नातक। कहानी-संग्रह 'जाना नहीं दिल से दूर' प्रकाशित। अंग्रेज़ी कहानी-संग्रह 'भूतनाथ मीट्स भैरवी' प्रकाशित।

हिंदी साहित्य के इतिहास में प्रबुद्ध और प्रखर आलोचक तीन तरह के कहे जा सकते हैं। प्रथम कोटि के आलोचक वे हैं जो कि कुछ चुनिंदा कृतियों की आलोचना करते हैं। उनका मानना होता है कि अगर आलोच्य कूड़ा हो तो फिर आलोचना का कोई अर्थ नहीं है। कृतियां वही चुनी जाती हैं जो आलोचक को पसंद आएं तथा उसके बाद शिल्प, कथ्य, मूल्य की चर्चा करते हुए लोचनों (आंखों) को बढ़ा कर देखें और दिखाएं। 'आलोचना' का यह परिष्कृत अर्थ है। द्वितीय कोटि के वे आलोचक हैं जिनका कार्यक्षेत्र का विस्तार बहुत अधिक है। जो नज़रों के सामने गुज़रे हर कुछ की जांच-पड़ताल, ठोक-बजा कर कहना कि यह चीज़ अच्छी है। यह काम बहुत ही दुष्कर और श्रम साध्य है। यहां आलोचना का मौलिक उद्देश्य रचना का अच्छा होना या न होना है। तीसरी कोटि के वे आलोचक हैं जिन्होंने अपनी प्रतिभा से खुद को आलोचक के तौर पर स्थापित तो किया पर अपनी महत्वाकांक्षाओं और दबावों में भ्रष्ट होकर अपनी विश्वसनीयता संदिग्ध कर बैठे। जिनका काम फ़तवे जारी करना तक सीमित रह जाता है और कालांतर में उनकी प्रासंगिकता नहीं रह जाती।



विष्णु खरे

विष्णु खरे (1940-2018) की आलोचकीय अंतर्दृष्टि को अपूर्व विस्तार तथा बृहत्तर दृष्टि रखने वाला कहा जा सकता है। एक तरफ़ विष्णु खरे स्वयं मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय के बाद सबसे बड़े कवि के रूप में याद किए जाएंगे, दूसरी ओर उनकी विलक्षण मेधा जो उनकी आलोचनाओं में प्रकट हुई है, अविस्मरणीय है।

बहुत से साहित्यकर्मी, उनकी आलोचना से क्षुब्ध होकर उन्हें पौराणिक कथाओं के महाक्रोधी दुर्वासा ऋषि की संज्ञा देते थे। यहां ध्यातव्य है कि कालिदास ने 'महाभारत' में वर्णित दुष्यंत-शकुंतला कथा में दुर्वासा ऋषि को लाकर 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' को विशिष्ट बना दिया था–

विचिंतयंती यमनन्यमानसा
तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन्
कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव ||1||

– 'अभिज्ञानशाकुंतलम्', चतुर्थ अंक, कालिदास

अपने शाप में दुर्वासा कहते हैं, "जिसके चिंतन में खोई हुई तुम मेरी उपस्थिति से भी परिचित नहीं हो वह तुम्हें भूल जाएगा।" दुर्वासा ने शाप शिष्टाचार की सामाजिक मर्यादा भूल जाने के कारण दिया था। अपराध के लिए क्षमा मांगने पर ऋषि शाप निवारण का उपाय भी बताते हैं। विष्णुजी भी बहुत से साहित्यकर्मियों को साहित्य, शील, मूल्य आदि को भूल जाने पर, काव्यगत दोष की अनदेखी करने पर बड़े कठोर प्रतीत होते हैं पर यह क्रोध साहित्य और समाज के कल्याण के लिए था।

विष्णु खरे की आलोचकीय दृष्टि दो विशिष्ट विधाओं में प्रकट होती है– काव्य समालोचना में और सिने आलोचना में इसे समझने के लिए उनकी 'आलोचना की पहली किताब' (1982) और 'सिनेमा समय' (2018) पढ़नी चाहिए। अपने समय के प्रमुख कवियों की कृतियों की समीक्षाओं का संकलन 'आलोचना की पहली किताब' में है जिसमें सन् 1966 से सन् 1982 तक प्रकाशित लेख हैं। 'सिनेमा समय' में अधिकांश लेख, वेब पत्रिका 'समालोचन' पर समय-समय पर प्रकाशित हुए हैं जिन पर राष्ट्रीय स्तर तक की साहित्यिक बहस हुई। इन दो विधाओं में व्यक्त उनके आलोचना-कर्म और साठ साल के लंबे सक्रिय साहित्यिक जीवन में एकरूपता है, जिसे समझे बिना उनके काव्य-कर्म को नहीं समझा जा सकता।

आलोचना का लक्ष्य : अपनी मारक शैली और चुहलबाज़ी में विष्णुजी ने एक बार कहा था कि वे हिंदी साहित्य के सुअर हैं। छोटी-बड़ी पत्रिकाओं में छप रहे, नवोदित, वृद्ध कवियों, लेखकों, निबंधकारों आदि पर पैनी नज़र रखते हुए सारा कूड़ा-कड़कट

संपर्क : जी-1, 508, गंगा अपार्टमेंट, डी-6, वसंत कुंज, नई दिल्ली-110070

खाने-पचाने में उन्हें महारथ हासिल था। यहां तक कि बहुचर्चित वेब पत्रिका 'समालोचन', 'जानकीपुल' आदि पर भी वह बराबर नज़र बनाए रखते थे और बेलौस टिप्पणियों से बहस की नई दिशा प्रदान करते थे। वे आलोचना का मूल लक्ष्य पाठकों की उदासीनता को सरोकार में बदलने में देखते हैं।

इस संबंध में उन्होंने अपनी पुस्तक 'आलोचना की पहली किताब' में लिखा है "उदासीन विशेषण सापेक्ष है- जिसे हम अच्छा साहित्य या अच्छी कृति मानते हों उसके प्रति दिलचस्पी के अभाव को हम उदासीनता तो कह ही सकते हैं, आगे बढ़कर अज्ञान, मूर्खता या असांस्कृतिकता भी कह सकते हैं।....लेकिन उदासीनता यहां एक तटस्थ उदासीनता नहीं है, वह ख़ासी सोची-विचारी उदासीनता है, दरअसल वह क्रोधभरी, तंग आई उपेक्षा है।" (पृष्ठ 12 पुन:) "एकाध बार आलोचना भले ही किसी की उदासीनता को सरोकार में बदल दे- उदासीन परिवेशों का कुतूहलमय समाज अथवा समाजों में बदलना एक ऐसा काम है जो आलोचना और साहित्य को सौंपना इन दोनों का अपमान, मख़ौल तथा अन्याय है।" (पृष्ठ 14)

मई 2016 में मराठी फिल्म 'सैराट' पर उनका लेख 'एक सफल खूनी पलायन से छिटकते प्रश्न' (पृष्ठ 157, 'सिनेमा समय') में वह समसामायिक मुद्दों के साथ-साथ शोषित-वंचितों तथा आम जनता के सामूहिक सौंदर्यबोध पर भी प्रश्न उठाते हैं। यद्यपि विष्णु खरे रस सिद्धांत से सहमत नहीं थे, किंतु वह स्वीकार करते थे कि सही आलोचना के केंद्र में मानव-मूल्य ही हैं और वे मानव जीवन से पैदा हुए हैं। (पृष्ठ 19, आलोचना की पहली पुस्तक) यही दृष्टि रस सिद्धांत के मूल्यबोध में जुड़ी है। किसी हद तक आलोचना रस का अनुसंधान करती नज़र आती है।

मुक्तिबोध के संदर्भ में लिखते हुए विष्णुजी आलोचक की भूमिका स्पष्ट करते हैं- "चूंकि आलोचक चीज़ों को समझना चाहता है और उन्हें समझाने में सहायक होना चाहता है अत: वह एक व्यवस्था-प्रिय व्यक्ति होता है, या कह लें कि एक गणितज्ञ होता है जो परिणामों से कारणों की उल्टी यात्रा करता है।" (पृष्ठ 29, आलोचना की पहली पुस्तक)

कवि के बारे में - काव्य कर्म के प्रमुख उपकरण 'कवि' के संदर्भ में विष्णुजी सर्जनात्मकता के विस्फोट की अनियमितता को महसूस करते हुए लिखते हैं- "सृजनात्मक प्रतिभा कभी-भी समान रूप से प्रखर नहीं होती और कवि चाहकर भी प्रत्येक रचना को 'फ़र्स्ट-रेट' नहीं बना सकता। प्रत्येक कवि जानता है, यदि वह सचमुच कवि है तो, कि उसके कृतित्व में घटिया क्या है और मूल्यवान क्या है।" (पृष्ठ 115, आ. की. प. कि) यह वक्तव्य काव्य उद्गम के मूल स्वरूप और कवि की विमर्श क्षमता के अविभाज्य युग्म को दर्शाता है, जिसे शैव दर्शन में 'प्रतिभा' (उसे ही भासित करना) कहा गया है। 'प्रतिभा' के अन्य आवश्यक आयामों को उनकी इन उक्तियों से समझा जा सकता है- "प्रत्येक सही साहित्यकार या तो अपने कर्त्तव्य जानता है या वे उसके लेखन से ही पैदा होते हैं और फिर भी उस पर लाज़िमी नहीं होते।" (पृष्ठ 14, आ. की. प. कि) "किसी कवि के सामने चिंता सिर्फ़ इसी बात की नहीं रहती कि वह दूसरों के प्रभाव से मुक्त रहे, बल्कि उसे वृहत्तर चिंता यह रहती है कि वह अपना स्वयं का एक व्यक्तित्व, एक आवाज़ बना पाए।" (पृष्ठ 156, आलोचना की पहली किताब)

यद्यपि काव्य परंपरा, समाज परिवेश और इतिहास सर्जन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं किंतु काव्य स्वातंत्र्य को रेखांकित करते हुए विष्णुजी इस सत्य से अवगत कराते हैं- "लेकिन हर्ष का विषय है कि प्रत्येक अच्छा कवि पारंपरीण अर्थों में कवि नहीं होता और सदैव पारंपरीण कविता न लिखता हुआ कुछ और भी होना-लिखना चाहता है। किसी कवि की प्रतिनिधि रचनाएं वे नहीं हैं जिनमें उसने पारंपरीण अनुभूतियों को कुछ अधिक अच्छे ढंग से लिखा है बल्कि वे हैं जिनमें अपनी मान्यताएं, प्रतिक्रियाएं, अपने हस्ताक्षर तथा अपनी विजय और पराजयों को छोड़ आया है।" (पृष्ठ 121, आ. की. प. कि)

यह आमतौर पर आरोप लगता है कि कवि का व्यक्तित्व अपेक्षित नहीं रहा और निराशाजनक रहा, जिससे बचा जा सकता है। काव्यकर्म के अतिरिक्त कवि कुछ और भी हो सकता है, जिसे समझा जाना चाहिए- "आश्चर्य का विषय है कि आलोचना में सदैव व्यक्तित्व को एक ठहरी हुई, तर्कबद्ध या शाश्वत वस्तु मान लिया जाता है और फिर इस 'फैलेसी' के सहारे कवि पर या तो अजीबो-ग़रीब आरोप लगाए जाते हैं या भ्रांत प्रशंसा की जाती है। मनुष्य न रॉबोट है और न कंप्यूटर, वह पुच्छलतारा भी नहीं है कि उसके आचार-व्यवहार में कोई गणित खोजा जा सके। आदमियों की वह नस्ल जिसे कवि कहा जा सकता है प्रारंभ से ही अविश्वसनीय तथा तर्क से परे मानी गई है किंतु सारे कवि अलग-अलग किन्हीं मूल्यों के एक स्तर पर पहुंचते हैं और कमोबेश वे उनकी कविताओं में एक अनुपात में परिलक्षित होते हैं। यह भी ध्यान रहे कि कवि महान, संवेदनशील, सरलहृदय, दयालु होने के साथ-साथ लफंगे, शरारती, विदूषक और धोखेबाज़ भी होते हैं (आख़िर वे भी आदमी हैं) और इसलिए कवि के वक्तव्य को 'फ़ेस वैल्यू' पर ग्रहण करना अपने विवेक को जोख़िम में डालना है।" (पृष्ठ 112, आलोचना की पहली किताब)

कुंवर नारायण के संबंध में लिखते समय विष्णुजी कवि के अडिग संकल्प पर ज़ोर डालते हैं, जो बहुधा अहंकार और बुद्धि के नियंत्रण से बाहर चली जाती है- "लेकिन अच्छा कवि बहुत ज़िद्दी होता है और कविता लिखते समय अपने विवेक और शक्ति के अलावा किसी और को नहीं मानता - मानना चाहता भी है तो भी उसका सर्जनात्मक विवेक और ऊर्जा उस पर बाज़ी मार ले जाते हैं।" (पृष्ठ 86, आलोचना की पहली किताब)

कविता के मानदंडों पर - कविता और काव्य कर्म किसी काल खंड से संबद्ध होता है। यही बात सिनेमा पर भी लागू होती है। "हर युग में कविता की एक प्रमुख प्रवृत्ति होती है और अधिकांश कवियों की शक्ति उसे अभिव्यक्त करने में जुटी होती है।" (पृष्ठ 135, आलोचना की पहली किताब) साहित्य रचना में तुरंत प्रसिद्धि पाना या तुरंत मूल्यांकन पाना अविवेक का परिचय है। साहित्य इस बात से संबंधित है कि लंबी अवधि में समाज को, कला को, पाठकों को क्या मिला और वह मूल्यवान है या नहीं?

विष्णुजी कवि की कविता यात्रा के दो महत्वपूर्ण गुण 'आत्मालोचन' और 'हास-क्षमता' मानते हैं। हालांकि मौलिकता या नवीनता काव्यकर्म में अभीष्ट गुण है किंतु वह आगाह करते हैं कि "इस बात से किसी को असहमति नहीं हो सकती कि नयापन और अलगपन अपने-आप में कोई मूल्य नहीं है। वह फ़ैशन भी हो सकता है और विदूषकता भी।" (पृष्ठ 166, आलोचना की पहली किताब) इन्हीं अर्थ में वह कवियों और रचनाकारों को केवल अनुकरणमात्र से बचने के लिए कहते हैं। "प्रश्न पुराना है किंतु अभी भी जायज़ है कि आख़िर यथार्थ चित्रण का किया क्या जाए?" (पृष्ठ 139, आलोचना की पहली किताब) 'पल-पल परिवर्तित' वेश अच्छी कविता का मानदंड नहीं माना जा सकता किंतु यह भी सत्य है कि ऐसे कवियों में, जो स्वयं को नहीं बदलते, अधिकांश घटिया हैं। ईमानदार कवि के लिए बदलाव 'मुकरना' नहीं, जागरूक उत्तरदायित्व भाव है।" (पृष्ठ 29, आलोचना की पहली किताब)

रचनाकर्म के बहुत बड़े सत्य को मुक्तिबोध के संदर्भ में विष्णु जी उजागर करते हैं- "कविता में यूनिटी (एकता) शिल्प की भी हो सकती है और अभिव्यक्ति की भी- यानी हो सकता है कि विभिन्न 'विषयों' पर लिखी गई कविताओं का शिल्प एक-सा ही हो अथवा शिल्प के साथ 'प्रयोग' किए गए हों किंतु 'विषय' एक ही रहे।" (पृष्ठ 30, आलोचना की पहली किताब) स्तर बहुल रचना (स्ट्रेटिफ़िकेशन) के विषय में विष्णुजी कहते हैं कि "उनका सही मूल्यांकन कवि की अन्य कविताओं को समानांतर रखकर ही संभव है।" (पृष्ठ 36, आ. की. प. कि) कमोबेश यही बातें अंद्रेइ तार्कोव्स्की, बेला टार, ब्रेसों, पसोलिनी जैसे फिल्म निर्देशकों के संबंध में कही जा सकती है। आज वैश्विक कृतियां, विशेष कर फिल्में स्तर बहुल रचना हैं। यही समझ कला की जटिलता को सरल करने में सहायक होती है।

आलोचना के क्रम में कुछ कवियों पर कटाक्ष करते हुए उन्होंने कवियों के प्रवृत्तिगत दोषों को रेखांकित किया है- "यदि कवि अपनी कविता की व्याख्या करने के लिए इस तरह व्याकुल होता है तो इसका यही अर्थ हो सकता है कि या तो उसे पाठक के विवेक पर भरोसा नहीं है अथवा अपनी कृति के सामर्थ्य पर।" (पृष्ठ 27, आलोचना की पहली किताब) प्रत्येक कवि का यह भरसक प्रयास रहता है कि उसकी कविताएं एक प्रभाव छोड़ने में सफल रहें, किंतु जब उसकी दिलचस्पी इसमें हो जाती है कि यह सिलसिला कभी टूटने न दिया जाए तो बात साफ़ हो जाती है कि उसके लिए प्रभाव तथा उसके उपकरण ज्यादा महत्वपूर्ण हो चुके हैं, कथ्य नहीं।" (पृष्ठ 138, आलोचना की पहली किताब)

हिंदी की बहुतायत में मिलती सामाजिक कविताओं के दोष के संबंध में वे आगाह करते हैं- "साहित्य समाज का दर्पण है या नहीं- एक फूहड़ प्रश्न है, किंतु यह सत्य है कि कवि न चाहे तो भी समाज में रहने तथा उससे प्रभावित होने (भले ही रिमोट-कंट्रोल से) के लिए अभिशप्त है ...। 'सामाजिक' विषयों पर लिखी गई कविता, यदि वह फूंक-फूंककर नहीं लिखी गई है तो तुरंत एक ढर्रे का शिकार होती है और उसका अधिकांश हिस्सा अख़बारनवीसी बनकर रह जाता है।" (पृष्ठ 137, आलोचना की पहली किताब)

सिनेमा पर बहुविध दृष्टि की आवश्यकता - विष्णुजी सिनेमा में साहित्य के आने की वकालत करते हैं, साथ ही यह भी बताते हैं कि विदेशों में जहां किताबें पढ़ी जाती हैं वहां साहित्य-सिनेमा का संबंध कैसा है। यह निराशा का विषय है कि हिंदी सिनेमा विश्व स्तर की फिल्मों के सामने निराश ही करती है। इसके कई कारण हैं। साधारण कारण तो यह गिनाए जा सकते हैं कि दर्शकों का अज्ञान, प्रतिभाशील और संस्कृत निर्देशकों का अभाव आदि। किंतु यह समस्या बहुस्तरीय है। हमारे यहां सिनेमा पढ़ाया ही कम जाता है, और जहां पढ़ाया भी जाता है वह बेहद अफ़सोसनाक है।

यह अब निर्विवाद से रूप से स्थापित हो चुका है कि भारतीय फिल्मों में राजनैतिक और वैचारिक जोख़िम लेने का माद्दा नहीं है। इसका कारण साहसशून्य और विचाररूप से असमृद्ध निर्देशक हैं। वह राजनैतिक प्रतिबद्धता के कारण, मानव कल्याण के उद्देश्य, वैचारिक ईमानदारी का रास्ता छोड़ देते हैं। 'सिनेमा समय' में भारत की सिने संस्कृति के विविध पहलू, जैसेकि फिल्म पत्रिका 'स्क्रीन' का बिकना, फिल्म पत्रकारिता और पत्रकारों पर लेख, भारतीय सिनेमा का इतिहास, महत्वपूर्ण निर्देशकों की अनदेखी (ख़्वाजा अहमद अब्बास की जन्मशती न मनाना), समर्थ कलाकारों को हाशिये पर ले जाना, गोवा फिल्म समारोह की निरर्थकता पर चर्चा करते हुए वह एक ऐसी संस्कृति की अनुपस्थिति का संकेत करते हैं जो एक स्वस्थ समाज की दरकार है।

जब तक कोई समाज सृजन नहीं करेगा, वह न प्रबुद्ध हो सकता है न ही सुखी हो सकता है। सिनेमा पर लिखी उनकी आलोचना का फलक इतना विस्तृत है कि उसमें विश्वस्तरीय अभिनेता, निर्देशक, पटकथा लेखक, संगीतज्ञ, राजनीति, इतिहास, दर्शन जैसे ज्ञान के क्षेत्रों से परिचय होने की आवश्यकता है। विष्णुजी अपनी अपूर्व मेधा से इतने प्रतिमानों और पहलुओं की व्याख्या करते हुए समसामायिक विषयों पर ऐसे चले आते हैं कि हम हतप्रभ से यह सोचने लगते हैं कि ऐसा भी होता है, हमने क्यों न सोचा?

यह हमें याद रखना चाहिए कि विष्णुजी हिंदी के एकमात्र समीक्षक हैं, जिन्हें 'कॉन', 'ला रोशेल' और रोत्तरदम जैसे विश्वस्तरीय फिल्म समारोहों में आधिकारिक रूप से आमंत्रित किया गया। वे भारतीय फिल्मोत्सव में राष्ट्रीय पैनोरमा खंड के लिए फिल्म चयनकर्ता भी रहे। (पृष्ठ 8, 'सिनेमा समय')

महत्वपूर्ण प्रतिमान - बतौर आलोचक, विष्णुजी अपने समय की हिंदी कविता के महत्वपूर्ण कवियों में गजानंद माधव मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, कुंवर नारायण और केदारनाथ सिंह को रखते हैं। वे रघुवीर सहाय के संबंध में लिखते हैं- "रघुवीर सहाय की कविताएं वह अप्रिय और अलोकप्रिय कार्य करती हैं- वे हमेशा ग़रीब रिश्तेदार की तरह ऐन ड्राइंग-रूम में उस वक़्त चली आती हैं, जब आप साहित्य-संगीत-कलाप्रेमी उपमंत्री से देश की हालत पर दो-चार हो रहे होते हैं।" (पृष्ठ 82, आ. की. प. कि) कुंवर नारायण पर लेख में वह यह स्थापित करते हैं कि "घटिया रचनाकार इतिहास को गरिमामंडित या मोहक बनाता जाता है। वह उसकी कल्पित भव्यता से रोमांचित होता है और किसी तथाकथित स्वर्णयुग को पुनरुज्जीवित करता है। दूसरे क़िस्म का रचनाकार इतिहास को प्रासंगिक बनाने के लिए उसे इस्तेमाल करता है- उसकी जो विचारधारा हो उसमें खोजने की कोशिश करता है या उसे उस पर आरोपित करता है।" (पृष्ठ 92, आलोचना की पहली किताब)

दिलीप कुमार और अमिताभ बच्चन की अभिनय की प्रशंसा करते हुए, वह सत्यजित राय, बलराज साहनी, ख़्वाजा अहमद अब्बास के अवदान को याद करते हैं। सिनेमा आलोचना में वह सम-सामयिक फिल्मों 'मोहनजोदारो', 'बाहुबली', 'सैराट', 'पीके' आदि की चर्चा करते हुए व विश्व स्तर पर चर्चित फिल्मों पर इशारा करते हुए यह बताते हैं कि सिनेमा के प्रतिमान इतने विस्तृत और व्यापक हैं कि इसमें गहरे अनुसंधान की आवश्यकता है। कविता और उपन्यास की तुलना में फिल्मों के प्रतिमान कितने देखे और विचारे जाएंगे, यह कहना कठिन है। सिनेमा समाज की तात्कालिकता पर सवार है, जिसे आमतौर पर बहुत ध्यान जाता है। महत्वपूर्ण प्रतिमान युगप्रवर्तक मूल्यों और उसके प्रभाव से पहचाने जाते हैं।

एक सजग आलोचकीय दृष्टि मूल्यों से संचालित होती है। जीवन के विभिन्न आयामों में व्यावहारिक आदर्श, सात्विक, नैतिक मूल्यों और मूल्यबोधों की विकासशीलता गुंथी हुई हैं। विष्णु खरे हिंदी साहित्य के विशिष्ट कवि होते हुए मीर तक़ी 'मीर' की तरह बेहतरीन 'इसलाह' देने वाले, ब्लदीमिर नाबोकोव और हेनरी जेम्स की तर्ज़ पर सर्जक और आलोचक के रूप में ध्रुवतारे की तरह प्रतिष्ठित हुए हैं। उनकी सूक्ष्म अंतर्दृष्टि भारतीय वाङ्मय से कितनी प्रेरित थी, यह ठीक से नहीं कहा जा सकता है, किंतु वह आचार्य आनंदवर्धन और आचार्य अभिनवगुप्त की काव्य-परंपरा से अवछिन्न नहीं है, यह निश्चित है। ❑

स्मृतियों में विष्णु खरे



जन्म : 28 मार्च, 1963। कविता और लेखन में सक्रिय। पिछले 20 वर्ष से दिल्ली में। वर्तमान में सीएसडीएस की पत्रिका 'प्रतिमान : समय समाज संस्कृति' के संपादकीय विभाग से संबद्ध।

वह शीशे में / यूं और इतना देखना चाहता है / कि बिल्लौर में तिड़कन तक न आए / सिर्फ़ जो दिख रहा है वह /.../ पुर्ज़ा-पुर्ज़ा हो जाए।

इन कविता पंक्तियों के कवि विष्णु खरे जीवनपर्यंत उन शक्तियों के खिलाफ सक्रिय रहे जो हमारे समय और समाज में मनुष्य के विरुद्ध शोषण, हिंसा और अत्याचार में शामिल हैं। उन्होंने कविताएं लिखीं। प्रारंभिक दिनों में कहानियां भी लिखी जो 'कहानी' जैसी प्रसिद्ध पत्रिका में प्रकाशित हुई थीं। बीसवीं सदी की हिंदी कविता में अपनी धुन और आत्महानि की सीमा तक जाकर, लीक छोड़कर लिख पाने वाले कम ही कवि हैं। विष्णु खरे उन्हीं में गिने जाएंगे।

निराला और मुक्तिबोध में विश्वास रखने वाले विष्णु खरे अपनी कविता के गद्यात्मक होने को कविता की पहेली और अपने को 'जीवन के वैविध्य' का कवि समझते रहे। उनकी कुछ कविताओं के शीर्षक ही इसके प्रमाण के रूप में काफ़ी हैं- 'कोशिश', 'लालटेन जलाना', 'उल्लू', 'लड़कियों के बाप', 'वाक्यपदीय', 'गीध', 'आलैन', 'हमारी पत्नियां', 'लापता', 'सिंगल विकेट सीरीज़' और 'घुग्घू।' इतनी अधिक विविधआयामी और सुशिल्पित कविताएं उनकी और उनके बाद की पीढ़ियों के शायद ही किसी और कवि ने लिखी हो। वे इतिहास-पुराण के भी गहन अध्येता थे। उनके मिथक का पैमाना 'महाभारत' रहा है। वे बाकी संस्कृतियों के मिथक को 'महाभारत' की तुलना में कमतर मानते थे। वे ऊंचे दर्जे के पत्रकार, श्रेष्ठ अनुवादक और निष्पक्ष आलोचक के रूप में भी जाने जाते रहे। उनका न होना हिंदी समाज के लिए गंभीर क्षति है। विष्णुजी के निधन के उपरांत हिंदी अकादमी, दिल्ली और रज़ा फ़ाउंडेशन ने शोक सभाएं आयोजित कीं। यहां उन सभाओं में व्यक्त विष्णु खरे के मित्र-कवि-साहित्यकों के उद्‌गार संक्षिप्त रूप में दिए जा रहे हैं। संकलन और सार-संक्षेप किया है **मनोज मोहन** *ने।*

अशोक वाजपेयी



निडर, साहसी, कवि-आलोचक और सदैव सच एवं न्याय के पक्षधर रहे विष्णु खरे का जाना हिंदी जगत के लिए बड़ी क्षति है। उनकी कविताओं में नगरीय जीवन के लगभग अदृश्य कष्टों, विषमताओं एवं मानवता का विरल निपुणता एवं गहरी मानवीय संवेदना के साथ चित्रण हुआ है। नई पीढ़ी की व्यापक सृजनात्मकता के साथ लगाव और उस पर गहरी नज़र रखने वाले विष्णु खरे अपनी आलोचना व पत्रकारिता में हमेशा एक प्रतिबद्ध लेखक रहे। उन्हें हमारे समय की राजनीति, उसके विरोधाभासों और उसकी अन्यान्य पर्तों की गहरी समझ थी। वे इस राजनीति का मूल्यांकन न्याय, समानता व स्वतंत्रता के नज़रिए से करते थे। उनकी दृष्टि में एक गहरी मानवीयता और उदग्रता की चमक थी। रचना और आलोचना की फ़िक्र और सतत प्रश्नाकुलता ने उन्हें अपने समय के साहित्य, संस्कृति और राजनीति पर बेबाक टिप्पणी करने का साहस दिया। उन्होंने दिखते सच को भले ही कभी-कभी अतिरंजित किया हो, लेकिन उसे कभी छुपाया या दरकिनार नहीं किया। अपनी कविता में उन्होंने गद्य और पद्य की दूरी लगभग ख़त्म कर दी थी। अपनी मृत्यु से पहले विष्णु खरे रज़ा फ़ेलोशिप के अंतर्गत मुक्तिबोध की कविताओं का अंग्रेज़ी में अनुवाद कर रहे थे। उनका जाना देश के प्रजातांत्रिक लेखक और पाठक समुदाय के लिए एक अपूरणीय क्षति है। (मो. 9811525653)

***संपर्क** : एलपी-61/बी, पीतमपुरा, दिल्ली-110034, मो. 08506014917*

ओम थानवी



कंप्यूटर पर वो अपनी बीमारी के बारे में नई-नई जानकारियों से वाक़िफ़ रहते थे। इस मामले में तो बिल्कुल नई पीढ़ी से भी कुछ आगे थे। इंटरनेट से जानकारियां कैसे हासिल की जा सकती हैं, इस मामले में वो काफ़ी पारंगत थे। इस कारण दुनियाभर में क्या नया लिखा जा रहा है, इसकी जानकारी रहती थी उन्हें। मैं तो इस बात से काफ़ी प्रभावित हुआ कि उनकी रेंज बहुत व्यापक थी। इतनी रेंज जो है, वह ढूंढना हिंदी में बहुत मुश्किल है और ईमानदारी के साथ वो उनमें पैठे हुए थे। 'नवभारत टाइम्स' में लिखे संपादकीय संपादक के नाम से जाने जाते हैं लेकिन लिखते तो सहायक संपादक ही हैं। पता भी नहीं चलता कि किसने लिखा। लेकिन कुछ संपादकीय ऐसे थे जिनका पता चल गया क्योंकि वो इतने अनूठे थे, जैसे अज्ञेय और शमशेर की मृत्यु पर 'दिनमान' से लिखा संपादकीय उन्हीं का लिखा था। भाषा, सिनेमा, कला और नाटक को लेकर उनकी अपनी समझ थी। सिनेमा में चूंकि मेरी भी दिलचस्पी है, इस कारण कई जगहों पर हम दोनों साथ गए। एक फिल्म समारोह में, मुझे अभी भी याद है पास-पास की सीट पर बैठे थे। उन्होंने एक फिल्म के बारे में कहा अगर ईमानदारी से ज्यूरी का फ़ैसला हुआ तो यह फिल्म सबसे अच्छी साबित होगी और वही हुआ भी। इस बात को लेकर मैं कई दिनों तक चमत्कृत रहा। फिल्म अच्छी लगी और यह कह देना कि यह फिल्म फ़ेस्टिवल की सबसे अच्छी फिल्म है, जबकि और फिल्में आने वाली थीं।

वो मेहमाननवाज़ी बहुत अच्छी करते थे। मैं सौभाग्यशाली हूं कि उनके घर पर भी गया हूं। हिंदी के कई लेखक हैं जो दूसरों के यहां जाने के लिए तैनात रहते हैं। निर्मलजी कहा करते थे कि कुछ लोग दूसरों की जेब में हाथ डाले रहते हैं, लेकिन विष्णु खरे उनमें नहीं थे। खरे साहब इस फेरे में नहीं रहते थे कि कोई मेरा बिल साइन कर दे, वो तो दूसरों का बिल साइन करते थे।

मैं तो अधिकारी नहीं था उनकी दोस्ती का, लेकिन उनके साथ घनिष्ठता हो गई, वैसी बहुत कम लोगों के साथ साहित्य में हुई होगी। मिलना-जुलना बहुत रहता है, लेकिन मैं जानता हूं कि एक दीवार जो है वो सबके बीच में रहती है। औपचारिक-सा संबंध होता है। ज़रूरत पड़ने पर लोग मिलते भी नहीं हैं लेकिन उनके साथ वो दीवार बिल्कुल ढह गई थी। इस वजह से उनसे मिलना-जुलना अधिक रहा। चाहे उनका लिखा हुआ हमने छापा या नहीं, कभी उनसे राय ली, नहीं ली लेकिन मिलने पर लगता था कि हम लोगों की दोस्ती कहीं पुरानी है, बहुत गहरी है। (मो. 9873710777)

मंगलेश डबराल



बर्तोल्ट ब्रेख्त विष्णु खरे के बहुत प्रिय कवि थे। उनकी एक कविता है जिसका आशय है कि जब मैं तुमसे रुखाई के साथ और बिना तुम्हारी ओर देखे हुए बात करूं तो तुम यह समझो कि मैं तुमसे बहुत लगाव रखता हूं।... तुम्हारे लिए फ़िक्रमंद हूं तो ऐसा लगता है कि विष्णु जी ने सिर्फ़ इस कविता का अनुवाद ही नहीं किया बल्कि अपने जीवन में उतार लिया था। आमतौर पर लोगों से वे प्रेम से नहीं बोलते थे या बहुत देर से बोलते थे। जो लोग उनकी इस फ़ितरत को नहीं समझ पाते थे उनके लिए उनकी बातें बहुत आहत करती थीं। उनको लगता था कि वे बहुत रूखे, गुस्सैल और बदमिज़ाज और अपने ही फ़ौज को रौंदने वाले हाथी हैं। और जो लोग इसको समझते थे वो लोग उनके बारे में ग़लतफ़हमी नहीं पालते थे।

उनके किए चार बड़े काम हैं जो अविस्मरणीय हैं– 1. उन्होंने कविता की भाषा को बदल कर रख दिया। उस समय की बात है जब 1971 में उन्होंने 'टेबुल' नामक कविता लिखी। एक कविता दोस्त स्वामीनाथन को समर्पित है–'कोशिश'। 'कोशिश' कविता मृत्यु के बारे में है। जब उन्होंने यह लिखा -उस समय से कविता बदल गई। उन्होंने गद्य और निबंध के डिक्शन में मानवीय आवेग और करुणा को पैदा किया। उन्होंने बताया कि रूखी भाषा के ज़रिए यह भी संभव है। विष्णु खरे के बाद वो कविता नहीं रही जो थी। 2. हिंदी कविता को युरोपीय देशों तक पहुंचाया। इसके कई संकलन हैं। उन्होंने हिंदी कविता को जर्मनी, हॉलैंड वग़ैरह देशों तक पहुंचाया। 3. उनके अनुवाद के माध्यम से हमने हंगरी के बड़े-बड़े कवियों को, इतिला जोसेफ और अन्य, जर्मनी के गुंटर ग्रास, विंटर आइतर जैसे कवियों की कविताएं पढ़ीं, वे नहीं होते तो यह सब अनुवाद हमारे सामने नहीं आते। उनके अपार अनुवाद अप्रकाशित हैं। 4. चंद्रकांत देवताले को हिंदी के अत्यंत महत्वपूर्ण कवि के रूप में पहचान दी। आमतौर पर हमारी आलोचना बड़ी धंधई क़िस्म की, बहुत छिटपुट या तो आशीर्वचनों के फूल बरसाती है या कुछ बेडौल पत्थर फेंकती रहती है। उन्होंने एक कवि पर केंद्रित किया और चंद्रकांत देवताले के महत्व को बताया। वरना चंद्रकांत देवताले उज्जैन में पड़े हुए थे। उनको खुद भी अपनी परवाह नहीं थी। मैं अपने-आप को उनका संगतकार मानता हूं, इन शब्दों के साथ उनको याद करता हूं। (मो. 9910402459)

अनामिका



मैं उनसे मिलने के पहले से उनको जानती थी। मेरे पिता (श्यामनंदन) किशोर और विष्णु जी चेकोस्लोवाकिया में एक साथ थे। एक लंबे प्रवास में थे। मैंने अपने पिता के मुख से कुछ ऐसे संस्मरण सुने हैं जो उनकी द्रावकता उजागर करते थे। उसके अलावा केरल में और एक-आध जगह मैंने उनके भीतर का शिशु भी देखा है। एक अनुवादक के रूप में, चिंतक के रूप में, उनका आयाम जितना बड़ा था और उनकी दृष्टि जितनी पैनी थी- उसका पता उनके अनुवाद से भी चलता है। उनके जैसे खुरदुरे अनुवाद आजकल प्रचलन में हैं। लोग कहते हैं एक अनुवाद को अनुवाद की तरह नहीं होना चाहिए। खुरदुरा होना चाहिए, उससे मूल भाषाई ठस्सा बना रहता है। इसी तरह की भाषा में इतनी मार्मिक कविता लिख पाना जैसे- 'शामवती', 'लालटेन जलाना'- ये उनके ही वश में था। उन्होंने इतने अंधेरों के बीच भी सबके भीतर लालटेन जलाने की प्रक्रिया शुरू की और पूर्वापर अनुभवों की लालटेन उठाकर उन्होंने जीवन से वृहत्तर सत्य समझने की कोशिश की और समझे भी बहुत हद तक। इसके लिए हम हमेशा उनके कृतज्ञ रहेंगे।

मेरी अंतिम मुलाक़ात उनसे केरल में हुई थी। उस समय उन्होंने कहा था कि मैं कैंची लेकर 'महाभारत' के साथ बैठा हूं अनामिका। मैं 'महाभारत' को री-राइट करना चाहता हूं। उसका सारांश यह है कि मैं 'महाभारत' से एक अंतर्पाठीय (इंटर-टेक्सचुअल) संवाद चाहता हूं। जिसके जितने बड़े सपने होते हैं उसके दुख भी उतने ही बड़े होते हैं और अगर कोई दुख के कारण सात्विक क्रोध में रहता है तो उसे समझने की कोशिश करनी चाहिए कि कुछ है जो उसको चुभ रहा है। जैसा समाज वो चाहते थे, वैसा नहीं है। इसलिए उन्हें खुद भी करेंट लग रहा था, जैसा ऑस्कर वाइल्ड कहते थे, इच मैन किल्स द थिंग ही लव्स। वो जो पास होंगे उन्हें भी झटके लगते होंगे जो दूर होंगे उनके भीतर बल्ब भी जलते होंगे। (मो. 9810737469)

जाबिर हुसेन



विष्णु खरे का जाना! चंद्रकांत देवताले, कुंवर नारायण, केदारनाथ सिंह के बाद, अब विष्णु खरे! दिल तो उसी दिन सहम गया था, जब उनके अकेले घर में बिस्तर से गिरकर बेहोश हो जाने और पड़ोसी द्वारा पंत अस्पताल के आईसीयू में भर्ती कराने की ख़बर आई थी। कुछ ऐसी ही परिस्थिति में, कुछ वर्ष पूर्व, उर्दू के बड़े कथाकार अनवर अज़ीम का निधन हुआ था।

जनवरी 2004 के दिन थे। हम विधान परिषद की पत्रिका 'साक्ष्य' के अंक की तैयारी में जुटे थे। अपनी कोशिश थी कि हिंदी-उर्दू के प्रतिनिधि कवियों की रचनाएं इस अंक में ज़रूर शामिल की जाएं। हिंदी कवियों की सूची में प्रमुख नाम विष्णु खरे का था। यही आयोजन हमारे-उनके परिचय और आत्मीय संबंधों का माध्यम बना। इस अंक में उनकी एक लंबी कविता 'घर' प्रकाशित हुई, जिसे 'साक्ष्य' के पाठकों ने काफ़ी सराहा।

ये एक ऐसे रिश्ते की बुनियाद थी, जिसने रचना के स्तर पर हमें नज़दीक कर दिया था। मैं अक्सर अपने साथियों से कहता रहा हूं, विष्णु खरे जैसा बहुआयामी व्यक्तित्व ढूंढकर लाओ। उनकी जीवन-दृष्टि बहुत व्यापक थी। उसमें केवल साहित्य नहीं था, रंगमंच था, फ़िल्म-जगत था, संगीत था, नृत्य था। सब कुछ था, जो मिलकर साहित्य का ख़मीर तैयार करता है। खूबी ये थी कि जो कुछ वो लिखते थे, उसमें आधिकारिता

का बोध छिपा रहता था। विचार के धरातल पर उन्हें चुनौती देना हर किसी के लिए आसान नहीं था। वो इतने मज़बूत नींव के आदमी थे कि उन्हें डिगाना मुश्किल-सा ही था।

प्रयाग शुक्ल



मैं अपने को प्रिविलेज्ड महसूस करता हूं कि विष्णुजी से निकट का संबंध और संपर्क बना क्योंकि इससे अच्छा कोई शब्द मुझे नहीं मिल रहा। अब उसमें बहुत सारी चीज़ें हैं- अनंत हैं वो। इनमें से एक को मैं नहीं भूलता और वह अंत तक हम दोनों के बीच बना रहा। आप लोगों में से बहुत-से लोग हम दोनों से ही परिचित हैं- मुझसे भी और उनसे भी। स्वभाव में हम दोनों एक-दूसरे के बिल्कुल विपरीत थे। इस हद तक विपरीत कि जब विष्णुजी से बहसें होने लगती थीं और झगड़े होने लगते थे, तब उत्तेजना हो जाती थी और मुझे घबड़ाहट-सी शुरू हो जाती थी। मेरे घर में तो ऐसी बहसें और ऐसे झगड़े इतने ज्यादा हुए हैं कि एक दिन मेरी बड़ी बेटी ने कहा कि आप लोग क्या करते रहते हैं? ग्यारह बजे तक। बहुत रात हो गई थी और उन्होंने विनोद भारद्वाज से, कुछ और लोग थे, एक बड़ा-सा झगड़ा मोल ले लिया था। मैं इस बात को इसलिए याद कर रहा हूं कि विष्णुजी के इतने पहलू हैं कि वो एक जगह पर अपने लिए भी बहुत कठिन व्यक्ति थे। लिखने-पढ़ने का जो उनका योगदान है वो हमेशा के लिए हो गया है। वो रहेगा, वो मिटता नहीं है- वो असल चीज़ है। पर जो उनके साथ रहते हैं वो जानना चाहते हैं कि आख़िरकार वो थे क्या? हमको क्या मिला, हमने क्या दिया।

विनोद भारद्वाज से हुए भयंकर झगड़े के तीसरे दिन हम लोग क्या पाते हैं कि- मुझे अचंभा भी हुआ कि विष्णुजी 'दिनमान' के दफ़्तर में गए, जहां हम लोग एक हॉल में बैठा करते थे- वे आए और सीधे विनोदजी की मेज़ के सामने बैठ गए। टोपी शायद तब भी उन्होंने पहनी हुई थी, उतारा और बैठे रहे और विनोद से गुपचुप धीरे-से बोले क्या नाराज़गी भाई... साहित्य अकादेमी में एक सभा आयोजित थी। संगीत की एक विदुषी महिला थीं। उन्होंने कहा "यहां लोग संगीतकारों के आपसी झगड़े की बात कह रहे हैं, मुझे तो लगता है कवियों में ये झगड़े बड़े भयंकर होते हैं।" मैंने प्रतिवाद किया तो विष्णुजी अपनी सीट पर बैठे-बैठे हंसने लगे और मुझसे बोले, "ये आपको क्या सूझी?" मैंने कहा, "ऐसा थोड़े ही होता है। हम जानते हैं कि साहित्य की दुनिया क्या है। झगड़े होते हैं, हमारे-आपके बीच भी हुए हैं। ऐसी बहुत-सी चीज़ें याद आती हैं लेकिन मुझे उनसे मित्रता का प्रिविलेज मिला। विष्णुजी का मित्र होने का, पारिवारिक मित्र होने का, उसे मैं अपनी बड़ी संपत्ति मानता हूं। (मो. 9810973590)

वंदना राग



किसी के जाने के बाद बहुत कुछ रहता नहीं बोलने को। जगहों से लोग जैसे ग़ायब हो जाते हैं वैसे ही ऐसे अवसरों पर बोलने के लिए शब्द भी नहीं मिलते आसानी से। यूं देखा जाए और बोलने वाले लोगों की तरह इतने वर्षों के संस्मरण भी नहीं हैं मेरे पास। पीछे लौटने पर कुल मिला-जुलाकर पंद्रह वर्षों का साथ दिखलाई पड़ता है। हो सकता है बहुत कम हो यह लेकिन जो संस्मरण, जो साथ रहा है, वह बहुमूल्य साथ रहा है।

सभी लोग उनके 'दुर्वासा' होने का ज़िक्र कर रहे हैं। मैंने हाल ही में उनके यूं चले जाने के शायद 20 दिन पहले उनसे कहा था, आप गुस्सा बहुत करते हैं, पता है कि लोग आपको 'दुर्वासा' कहते हैं तो उन्होंने कहा-यू थिंक ऑई डोंट नो अबाउट इट? मैं उनके और अपने बारे में सब जानता हूं। और उसके बाद वे एक शरारती हंसी हंस दिए थे।

हमने अपने बीच से एक ऐसा ब्राइट और विलक्षण व्यक्ति खो दिया है जिसकी भरपाई नहीं हो सकती है। उनकी दृष्टि ऐसी बेधने वाली थी। ऐसी मारक और पकड़ वाली कि उसका एक्सप्रेशन संभवत: एकदम आसन नहीं होता। इसीलिए वे जिस तरह से कहीं दूर-दराज़ के इलाक़े से किसी का उपन्यास, किसी की कहानी, किसी की कविता ढूंढ लाते थे और सबको फोन कर कहते थे- पढ़ो इसे कितनी नई बात है इसमें और कितनी अलग। फिर कहते थे इसपर लिखो। वह अद्भुत बात थी। उनकी मार्फ़त मैं अनेक लेखकों से जुड़ी। मेरी दुनिया बड़ी हुई। उन्होंने मुझे बहस करने के कई मौक़े दिए और बिना नाराज़ हुए मुझे अपनी बात कहने का मौक़ा दिया। बहुत आधुनिक थे और मेरे आलोचनात्मक तर्क को भी सुनते ज़रूर थे, भले ही सहमत न हों। उन्होंने मेरी एक ऐसी कहानी पर मुझे फोन किया जिसके बारे में कभी किसी ने बात नहीं की थी। उन्होंने कहा- हिंदी कहानी में मुझे तो याद नहीं पड़ रहा कि किसी महिला ने भिखारियों पर इस तरह की कहानी लिखी है।

वे अन्वेषक का मिज़ाज रखते थे। उनकी कविताओं का मिज़ाज भी वही। रचनात्मकता भी वैसी।

कई लोगों को उनका व्यवहार अतिरंजक भी लगता था। यह तो सभी इंसानों की फ़ितरत होती है कि वे कभी नार्मल रहते हैं, कभी अतिरंजक हो जाते हैं। जो लोग अतिरंजक ज्यादा होते हैं। उनका जीवन विविधताओं और रंगों से भरा होता है। विष्णुजी शायद दूसरों से अधिक अतिरंजक थे और इसीलिए इतने अलग और अमीर भी थे।

आज दु:ख तो बहुत है कि वे हमारे लिए एक कभी न भरने वाली जगह और ख़ामोशी छोड़कर चले गए हैं लेकिन उनका एक लंबा और इतना समृद्ध जीवन रहा है कि हम सब चाहें तो उनमें से अपने हिस्से का थोड़ा-थोड़ा टुकड़ा उठा कर अपनी यादों में उन्हें हमेशा के लिए बसा सकते हैं, बहुत ज़िंदा तरीके से और उन्हें हमेशा बहुत अच्छे से याद कर सकते हैं। (मो. 9953944658)

प्रियदर्शन



विष्णु खरे की पत्रकारिता को लेकर मुझे लगता है कि 80 और 90 के दशकों का जो शुरुआती दौर था, वो हिंदी के बौद्धिक तेजस्विता का पत्रकारिता में शायद सबसे उर्वर दौर था। हो सकता है राजेंद्र माथुर की वजह से लेकिन उन दिनों की 'जनसत्ता' भी 'नवभारत टाइम्स' की बराबरी नहीं करता था। प्रभाष जोशी के शुरू के दिनों का 'जनसत्ता' अपनी ख़बरों, अपने तेवर और सरकार से लड़ने-भिड़ने के लिए भले जाना जाता है लेकिन अपनी बौद्धिक, सांस्कृतिक चेतना के लिए जो 'नवभारत टाइम्स' की टीम थी जिसमें राजेंद्र माथुर थे, विष्णु खरे थे, प्रयागजी थे, राजकिशोर थे और बहुत सारे लोग थे- उन्होंने एक ऐसा अख़बारी मानस बनाया जिसके तहत हम तमाम लोग पढ़ने-लिखने वाले लोग हो गए। मेरी जो मानसिक बुनावट है उसमें बहुत सारा श्रेय 'नवभारत टाइम्स' के उन शुरुआती दिनों में पढ़े हुए लेखों का है और उसमें कई लेख विष्णु खरे के भी हैं।

एक बार मुझ पर भी नाराज़ हुए थे लेकिन दो बार बड़े ख़ुश भी हुए। एक अवसर था जब उनकी किताब 'काल और अवधि के दरम्यान' आई थी। मैंने उसकी समीक्षा की थी। समीक्षा छपने पर उनका

फ़ोन आया कि मैं क्या कहूं? मैं वही कह सकता हूं जो रघुवीर सहाय ने मुझे तब कहा था जब बीस साल पहले मैंने उनकी किताब की समीक्षा की थी।

मैंने पूछा क्या कहा था उन्होंने? विष्णुजी ने कहा कि उन्होंने कहा था कि तुमने जब पनचानवे नंबर दे ही दिए तो पांच नंबर क्यों काट लिए? मैंने हंसते हुए कहा कि पांच नंबर आपको काल दे देगा।

उनकी कविताएं पढ़ते हुए सारी चीज़ें हम लोग देखते-सुनते रहे हैं। उनके बारे में नया कुछ कहने की ज़रूरत नहीं है लेकिन कई बार मुझे लगता है कि वे अपने लिए कसौटियां बड़ी कड़ी कर लिया करते थे।

मैं दिल्ली नया-नया आया था, उनके घर गया। पता चला विष्णु खरे और विष्णु नागर आमने-सामने रहते हैं। बाद में दोनों को मिलाकर एक कविता लिख दी। उस समय हाइडेल बर्ग में थे विष्णु खरे। उनका फ़ोन आया, "यार तुमने तो कमाल कर दिया। वो कविता अब तो बेमानी-सी हो गई।" अचानक मुझे ख़्याल आया कि उनका घर– जिस बारे में कविता थी– वो घर ही छूट गया। वो दिल्ली लौट कर आए और जिस तरह गुज़रे अकेले, एकांत में वो हम सब के लिए बड़ा मर्मभेदी है। (मो. 9811901398)

हरीश त्रिवेदी



उनका कहा पहला वाक्य मुझे अब तक याद है। प्रयागजी याद कर रहे थे– सन् सत्तर के दशक में हम सब लोग हिंदी वाले मंच पर किसी तरह शामिल थे। कनॉट प्लेस में इकट्ठा होकर उसके गलियारों में बस चक्कर काटते रहते थे। जगमगाते गलियारे से नकारा फिरते थे हम लोग। एक बार पांच-छह लोग थे, अचानक विष्णुजी थोड़ा ठिठक गए। मेरी बांह पकड़कर अलग करके मुझसे बोले-तभी वो दो-तीन साल चेकोस्लोवाकिया रहकर आए थे और मैं चार साल इंग्लैंड रहकर लौटा था। ये एक और नाता बना। उन्होंने मुझसे कहा कि एक बात बताइए वहां से आने के बाद यहां सब कुछ धुंधला-धुंधला-सा नहीं लगता है? अंग्रेज़ियत का यह मार्मिक वाक्य है। वहां से यहां आकर सब धुंधला-धुंधला लगता है और ये वो कनॉट प्लेस में खड़े हो कर कह रहे हैं, यह उनका कहा वाक्य मुझे अब तक याद है। ये बिंब मेरे जीवन में चिपका रह गया है। वहां जो जाता है उसके बाद वो यहां आकर चाहे जितना प्रयत्न करे, उसको सब धुंधला-धुंधला ही लगता है। यह अनुभवजन्य है। जो शायद वहां न जाता तो उस तरह नहीं देखता।

उनमें एक भोलापन था। उनमें छिंदवाड़ा वाला स्मॉल टाउन ब्यॉय की वल्नैरेबिलिटी थी। वल्नैरेबिलिटी को हिंदी में क्या कहते हैं, मुझे नहीं पता। अक्खड़पन, बांकपन और अकड़– यह सब तो था ही उनमें। लेकिन वो जो भोलापन था, वह अद्‌भुत था। नेहरू मेमोरियल में उनको एक फ़ैलोशिप मिली। मुझसे बोले एक चीज़ का बहुत ख़्याल रखना पड़ता है। आप जानते हैं वहां उनके फ़ैलोज का आतंकित करने वाला बुद्धिजीवी वातावरण है। एक चीज़ का लगातार ख़्याल रखना पड़ता है– हिंदी वालों को पहली बार मिला है। मुझसे कहीं ऐसा न हो जाए कि अंग्रेज़ी वालों की धारणा और भी नीचे न हो जाए हिंदी के प्रति। वे अपने भोलेपन में भी मज़ाक करने से बाज़ नहीं आते थे। (मो. 9818355433) ❑

भारतीय समाज का....

पृष्ठ 8 से आगे...

है जो दर्शकों को प्रासंगिक भी लगे और मनोरंजक भी।

प्रासंगिकता एक ऐसी अनिवार्यता है जिसके बिना कोई भी फिल्म दर्शकों को आकृष्ट नहीं कर सकती। प्रासंगिकता दो अर्थों में अपने को अभिव्यक्त करती है। एक, समकालीन यथार्थ से जुड़ाव के अर्थ में और दो, उस यथार्थ के प्रति दर्शकों को तार्किक और सही लगने वाले परिप्रेक्ष्य के अर्थ में। दर्शकों को सही और तार्किक लगने वाला परिप्रेक्ष्य ज़रूरी नहीं कि दर्शकों के वास्तविक हितों के अनुरूप भी हो। यह बहुत कुछ राजनैतिक-सामाजिक चेतना पर निर्भर करता है दर्शक जिसके प्रभाव में पहले से होता है। यह महज़ संयोग नहीं है कि इस दौर में देशभक्ति के नाम पर आतंकवाद और पाकिस्तान विरोधी फिल्मों का बोलबाला इसीलिए रहा क्योंकि इसके द्वारा लोगों का ध्यान वास्तविक समस्याओं से हटाया जा सके। देशभक्ति और राष्ट्रवाद का प्रभाव दर्शकों को आतंकवाद और पाकिस्तान विरोधी फिल्मों का सहज ही समर्थक बना देता है। इसी तरह स्थानिकता और जातीयता के नाम पर वह पारिवारिक, जातिवादी और धार्मिक पहचानों से प्रेरित होकर रूढ़िवादी रीति-रिवाजों का समर्थक बन जाता है। उन्हें वह भारतीय संस्कृति का पर्याय समझने लगता है। इसी भारतीय संस्कृति के नाम पर वह फिल्मों में महिमा-मंडित किए जाने वाले रूढ़िवादी रीति-रिवाजों का समर्थक बन जाता है। यह महज़ संयोग नहीं है कि 1994 में बनी फिल्म 'हम आपके हैं कौन' में उत्तर भारत में प्रचलित हिंदू विवाह से जुड़े विधि-विधानों को जिस तरह ग्लैमराइज़ करके पेश किया गया, उसने न केवल फिल्मों में बल्कि धारावाहिकों में भी एक प्रवृत्ति और विधा का रूप ले लिया है। यहां तक कि इसे भारतीयता की सबसे लोकप्रिय सिनेमाई रूढ़ि माना जा सकता है जो मध्यवर्गीय यथार्थ से प्रेरित होकर अब स्वयं मध्यवर्गीय यथार्थ को प्रभावित करने लगी है।

1990 के बाद के तीन दशकों में आर्थिक उदारीकरण की भूमंडलीकृत नीतियों ने वैश्विकता और स्थानिकता, आधुनिकता और रूढ़िवादिता, धर्मनिरपेक्षता और सांप्रदायिकता का एक ऐसा अंतर्विरोधी चरित्र निर्मित किया है, जो लोगों को एक साथ अपनी विशिष्ट पहचान (जो धर्म, जाति, क्षेत्र आदि से प्रेरित होती है) के प्रति आग्रही बना रही है, तो दूसरी ओर वैश्विकता के नाम पर उनकी सोच और जीवन शैली दोनों का उपभोगीकरण भी करती जा रही है। इस दौर का हिंदी सिनेमा इस अंतर्विरोधी चरित्र का काफ़ी हद तक प्रतिनिधित्व करता है। अधिकांशत: उसके प्रभाव में आकर और कभी-कभार उसकी आलोचना करते हुए। पिछले तीन दशकों में बनने वाली अधिकतर लोकप्रिय फिल्मों में इसका प्रभाव देखा जा सकता है। 'हम आपके हैं कौन', 'हम साथ-साथ हैं', 'दिलवाले दुल्हनियां ले जाएंगे', 'ताल', 'कभी खुशी कभी गम', 'परदेस', 'हम दिल दे चुके सनम' आदि फिल्में भूमंडलीकरण की राजनीति से प्रभावित फिल्में हैं तो 'बांबे', 'रोजा', 'ए वेडनेस्डे', 'पद्मावत' जैसी फिल्में सांप्रदायिक राष्ट्रवाद से प्रभावित और प्रेरित हैं लेकिन इसी दौर में ऐसी बहुत-सी फिल्में बनी हैं जिनमें आर्थिक उदारीकरण और सांप्रदायिक राष्ट्रवाद की आलोचना भी की गई है। इनमें 'नसीम', 'हे राम', 'ज़ख़्म', 'चांदनी बार', 'कॉरपोरेट', 'ब्लेक फ़्राइडे', 'देव', 'ख़ाकी', 'आमिर', 'मुंबई मेरी जान', 'दिल्ली-6', 'हैदर', 'न्यूटन', 'शाहिद', 'राज़ी', 'मुल्क' जैसी फिल्में ख़ासतौर पर उल्लेखनीय हैं। ❑

● दो कविताएं : **विष्णु खरे**



जन्म : 9 फरवरी, 1940 (मध्य प्रदेश)।
निधन : 19 सितंबर, 2018
अग्रणी कवि, आलोचक, अनुवादक और पत्रकार। हिंदी की समृद्ध काव्य परंपरा में विशेष योगदान। हिंदी अकादमी सम्मान, मैथिलीशरण गुप्त सम्मान सहित अनेक पुरस्कारों से सम्मानित।

लालटेन जलाना

लालटेन जलाना उतना आसान बिलकुल नहीं है
जितना उसे समझ लिया गया है

अव्वल तो तीन-चार संकरे कमरों वाले छोटे-से मकान में भी
कम से कम तीन लालटेनों की ज़रूरत पड़ती है
और रोज़ किसी को भी राज़ी करना मुश्किल है कि
वह तीनों को तैयार करे
और एक ही आदमी से हर शाम
यह काम करवा लेना तो असंभव है

घर में भले ही कोई औरत न हो
सिर्फ़ एक बाप और तीन संतानें हों तो भी न्यायोचित ढंग से
बारी-बारी तीनों से लालटेनें जलवाना कठिन नहीं
यह ज़रूर है कि जब दिया-बत्ती की बेला आए
तो यह न मालूम हो कि लालटेन पीपे या शीशी में तेल नहीं है
और शाम को साढ़े छह बजे निकलना पड़े मिट्टी के तेल के लिए

जो दो तरह का आता था
घासलेट और सफ़ेद
सस्ता और घटिया था घासलेट
बू सफ़ेद से भी उठती है लेकिन निस्बतन खुशबू जैसी होती थी
महीने के आख़िर में अगर घासलेट लाना ही पड़ता था
तो उसे शीशी में नहीं टीन के डिब्बे में लाया जाता था
उससे रोशनी ही नहीं इज़्ज़त भी ख़राब होती थी
पड़ोसियों से मिट्टी के तेल के उधार की पेचीदगियां बिलकुल अलग विषय है
क्योंकि उसका सीधा संबंध लालटेन जलाने के हुनर से नहीं है

यह समझाना कठिन है कि आख़िर कोई लालटेन
अच्छी तरह क्यों जलाई जाए
वह अल्पायु में शुरू हुआ एक आजीवन ख़ब्त भी हो सकता है
लेकिन लालटेन जलाने का लुत्फ़ मुख्यत: तेल से है
और उसमें उतनी ही केंद्रीय भूमिका अच्छी बत्ती।

और शायद उससे भी ज्यादा
उम्दा साफ़ किए गए कांच की है
भलाई इसी में है कि बत्ती से बेवजह छेड़छाड़ न की जाए
लेकिन अगर उस पर ज्यादा गुल जमा हो ही गया हो
तो उसे उंगलियों से नोचना बेवकूफ़ी होती है
क्योंकि उसके बाद जब उसे बाला जाएगा
तो चारों तरफ़ से पुच्छल तारों जैसी दुमदार रोशनी निकलेगी
और कांच बच भी गया तो काला तो ही ही जाएगा।
कैंची से काटने में भी रेशे निकल आते हैं
या टेढ़ी-मेढ़ी कटती है
उसे ब्लेड जैसी चीज़ से काटा जाना चाहिए वह भी एहतियात से
लेकिन यह तभी मुमकिन है जबकि वह काफ़ी लंबी हो ऐन मौक़े पर
यह पता लगना कि बत्ती छोटी है
लालटेन की कुप्पी को मिट्टी के तेल से बिला वजह
लबालब भरने पर मजबूर करता है
और तब भी वह साढ़े नौ बजे तक दम तोड़ देती है

बत्ती ठीक करना और तेल भरना रोज़ के काम नहीं हैं
लेकिन जो काम सबसे ज़्यादा सलीक़े मेहनत और निगाह की मांग करता है
वह है शीशे को साफ़ करना
अव्वल तो यह ध्यान रखना पड़ता है
कि कब्ज़े से निकालते वक़्त
उसे ग़लत तरफ़ से तिरछा न कर दिया जाए कि वह टूट जाए
फिर यह कि शीशा सिर्फ़ बढ़िया राख से ही चमक सकता है
यानी या तो अच्छी जलाऊ लकड़ी की राख हो
या फिर सख़्त कंडे की
उसमें यदि रेत या कंकड़ हुए तो शीशा खुरच जाएगा
दांतों में तकलीफ़देह किरकिराहट होगी सो अलग

शीशे के अंदर लगे धुएं से खेल भी किए जा सकते हैं
मसलन उंगली से कोई तस्वीर बनाई जा सकती है
आपका नाम लिखा जा सकता है
या फ़लां गधा है वग़ैरह
लेकिन ऊपर से शुरू करते हुए नीचे तक आते-आते
सारी कालौंच मिटानी पड़ती है
और अंदर से ही नहीं बाहर से भी कांच को साफ़ करना होता है
साफ़ कांच खिलता ही दुबारा राख से मांजने से है
आह कितना ऐंद्रिक है लालटेन के शीशे को
धीरे-धीरे निखारना
फिर चाहो तो उसे किसी पुरानी साड़ी के टुकड़े से और चमका दो
तब तो उस पर सांस की नमी या उंगलियों की छाप भी अखरने लगती है

शीशे को उसके कब्ज़े में फिर बैठाना
ऊपर से लालटेन के कुंदे में अंगूठा डालकर ढक्कन उठाना
और कांच को उसके नीचे बैठाना भी
सावधानी के काम हैं
क्योंकि ग़लत ढंग से अंगूठा छोड़ने से
शीशा फंस या टूट सकता है
लेकिन इसके पहले यह भी देख लेना होगा
कि लालटेन की अंदरूनी गुंबद पर
महीन धुआं इतना न जम गया हो
कि कुंदा छोड़ते ही बत्ती पर बेआवाज़ आ गिरे

वह इतने चुपचाप जमता है कि किसी को उसकी
याद ही नहीं रहती

यह सब उस वक़्त
जबकि शीशा चटका या फूटा हुआ न हो
और उम्दा हो
क्योंकि अक्सर लालटेन के कांच सस्ते भी मिल जाते हैं
लेकिन उनमें महीन बुलबुले होते हैं या मोटाई बराबर नहीं होती
या अपने-आप में ज़र्द होते हैं
और सिर्फ़ महंगा कांच ही अच्छा नहीं होता
उसे परखने के लिए सधी उंगलियां कान और तजुर्बा चाहिए
जो एक अरसे तक लालटेन जलाने के बाद ही आते हैं
बेहतर यही है कि कांच बैठालने से पहले ही
बत्ती थोड़ी-सी जला ली जाए
और फिर लालटेन कसी जाए
उसके बाद धीरे-धीरे लौ को बढ़ाइए
देखिए रोशनी कमरे में कहां तक फैल जाएगी
अपने पीछे आपकी छाया की विशाल उपस्थिति है
उजाले में सब कुछ उभर आया है
उंगलियों पर केरोसीन और राख की जो मिली-जुली कसैली बू है
वह एक स्थिर स्निग्ध जलती हुई बत्ती की सुगंध में खो रही है

लालटेन जलाने की प्रक्रिया में लालटेन बुझाना
या कम करना भी शामिल है
जब तक विवशता ही न हो तब तक रोशनी बुझाना ठीक नहीं
लेकिन सोने से पहले बाती कम करनी पड़ती है
कुछ लोग उसे इतनी कम कर देते हैं
कि वह बुझ ही जाती है
या उसे एकदम हल्की नीली लौ तक ले जाते हैं
जिसका एक तरह का सौंदर्य निर्विवाद है
लेकिन लालटेन के हिलने से या हवा के हल्के से झोंके से भी
उसके बुझने का जोखिम है
लिहाज़ा अच्छे जलाने वाले
लालटेन को अपनी पहुंच के पास लेकिन वहां रखते हैं
जहां वह किसी से गिर या बुझ न जाए
और बाती को वहीं तक नीची करते हैं
जब तक उसकी लौ सुबह उगते सूरज की तरह
लाल और सुखद न दिखने लगे।

गुंग महल

खुली बहसों को दावत देना
रवादार शहंशाहों को भी परेशानी में डाल देता था

हिजरी 987-88 के दौरान दीवान-ए-ख़ास में
जब इस बात पर मुबाहिसा हुआ
कि खुदावंद की बनाई सबसे उम्दा शय अशरफ़-उल-मख़लूक़ात
आदमज़ाद की वाहिद पैदाइशी मुक़द्दस जुबान क्या थी
तो काज़ी और उलमा इस पर यकराय थे
कि अल्लाह की जुबान अरबी है
जिससें उसने कुन् कहकर कायनात को वजूद बख़्शा
और किताब-उल-मुबीन को नबी पर तारी किया

उधर ब्राह्मण और दूसरे दरबारी सवर्ण
पूरी भयभीत विनम्रता किंतु क्षमायाचना-भरी दृढ़ता से कहते रहे
कि वेद जो सृष्टि के प्राचीनतम ग्रंथ हैं और ईश्वर-विरचित ही हैं
चूंकि संस्कृत में हैं जिसे नाम ही देवभाषा का दिया गया है
अतएव इस पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है
कि परब्रह्म किस वाणी में बोलता है-
मंद स्वर में उन्होंने पाणिनि का भी उल्लेख किया

अनपढ़ होने के बावजूद
आक-ए-ज़ीशान जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर
एक ऐसा बादशाह था जिसे चीज़ों के साथ तज्रिबे करने
और उन्हें सही या बातिल साबित करने में बेदार दिलचस्पी थी

चुना उसने बीस हामिला हिंदू मुसलमान औरतों को
जो कमोबेश एक ही वक़्त में मां बनने वाली थीं
और जच्चगी के फ़ौरन बाद भेज दिया फ़क़त उनकी औलादों को
उस महल में जिसे आगरे में दूर नीम-बियाबान में
ख़ास इसी मक़सद से आनन-फ़ानन बनवाया गया था
जहां सिर्फ धाएं थीं और आयाएं और चंद दूसरे अहलकार औरत-मर्द
जिन सबको हुक्म था कि उनके मुंह पर पट्टी रहेगी
वे पालेंगे इन बच्चों को लेकिन उनसे और आपस में कतई बोलेंगे
नहीं
वर्ना उनकी जुबान क़लम कर ली जाएगी
और उस महल में जो दूसरे कारिंदे आएंगे वे भी अपना
मुंह बंद रखेंगे

मुआवज़े दिए गए थे इन बच्चों के वास्ते
या इन्हें निज़ाम के काम से तलब कर लिया गया था
यह पता नहीं चलता
यही बताया गया है
कि ज़िल्ले-इलाही जानना चाहते थे कि ये बच्चे
जब बोलने लायक़ होंगे तो कौन-सी जुबान बोलते पाए जाएंगे
अरबी, संस्कृत या कोई और

महीने बीत गए तीन-चार बरस भी
कि आलमपनाह को फ़तहपुर से दूर उस महल की याद आई
जिसकी बेजुबान ख़ामोशी की वजह से आसपास के
काश्तकारों, गूजरों ने
उसे नाम दे दिया था गुंग महल

10 अगस्त 1582 को गया बादशाह
अपने बहस करने वाले दरबारियों के साथ उस इमारत तक
जहां अब भी गूंगे बने हुए औरत-मर्द पाल रहे थे बच्चों को
इन बरसों में मुंह पर पट्टी बांधे कारकून
लाए थे रसद तनख़्वाहें और बाकी साज़-ओ सामान

चुप्पी तुड़वाई अकबर ने अड़तालीस महीनों की और हुक्म दिया
औरतों को
जिनके गलों की नसें तक जड़ हो चुकी थीं
और जो अब खुद सिर्फ़ इशारों में बात कर सकती थीं
कि बच्चों को हाज़िर किया जाए
वह शायद इसलिए कि जब अकबर ने यह फ़रियाद की
तो उसके बहुत कुछ जान चुके ज़ेहन का एक कोना
एक नए ख़ौफ़ के मारे हमेशा के लिए गूंगा हो चुका था। ❑

ख़ुदमुख़्तार

इंदिरा दांगी



जन्म : 13 फरवरी, 1980 (मध्य प्रदेश)। दो कहानी-संग्रह, दो उपन्यास, चार नाटक प्रकाशित। नाटकों का विदेशों में मंचन। कहानियों का एशिया के तमाम देशों में प्रकाशन। साहित्य अकादमी युवा पुरस्कार 2015, ज्ञानपीठ नवलेखन अनुशंसा पुरस्कार 2014 सहित अनेक पुरस्कार।

छुट्टी का समय होने को है। कार शोरूम के सब कर्मचारी अपना-अपना काम समेटते बार-बार घड़ी पर नज़र डालते हैं। पुराने सेल्स एक्ज़ीक्यूटिव शशिकांत ने अपने नए सहकर्मी मित्र जयगोपाल को दिन में ही बोल दिया था कि उसे उसके साथ चलना होगा। ऑफ़िस से छूटने से पहले वे भी दूसरे सहकर्मियों की तरह अपने यहां की सब नवयुवती सहकर्मियों को नज़रभर निहार ले रहे हैं। पुरुषकर्मी यहां लंबे समय तक कार्यरत रहते हैं; पर लड़की कर्मचारियां अक्सर ही बदलती रहती हैं, कभी-कभी तो महीनों में ही। उनके व्यक्तिगत जीवन उनके स्वभावों की तरह अस्थिर हैं। फिल्मी-सी चुस्त शर्टें पहनने वाली और सस्ते आईलाइनर, लिपिस्टक, पाउडर से अपने चेहरे हमेशा सजाए रखने वाली लड़कियों की मुस्कानें इस समय एकदम सच्ची होती हैं। दिनभर ग्राहकों, बॉस, सहकर्मियों और चपरासी-चौकीदारों तक की नज़रें सहतीं, नकली मुस्कुरातीं, असली ज़िंदगी में बेहद ग़रीब ये अर्द्धशिक्षित लड़कियां इस समय पिंजरों से छूटती हिरनियों की तरह खुश हैं। घर तक पहुंचने के उनके सब रास्ते डर और तनाव से भरे हैं, तो भी वे खुश हैं। उनके खुश चेहरों को देख शशिकांत भी खुश हो जाता है और अपनी सब परेशानियां भूल जाता है; चिड़चिड़े मैनेजर की दुत्कार तक!



"क्या बात है बड़े खुश दिख रहे हो?"

जैसे ही वे दोनों छुट्टी पाकर सड़क पर आते हैं, जयगोपाल पूछ लेता है। शशिकांत बात पर ध्यान न देकर, लोकल बस में चढ़ रही अपनी एक सहकर्मी लड़की को देखते कहता है,

"सिर्फ़ आते-जाते ही क्यों, ऑफ़िस में भी क्या कुछ नहीं होता। किस-किस की शिकायत करें ये और किससे? हमारा पिछला मैनेजर क्या कम था; वो तो अपने केबिन में ही...।"

"औरतों को बाहर निकलकर छोटी-मोटी चाकरी करना माने खुद को भाड़ में झोंकना। कितना ख़तरनाक समय है ये! अच्छा है, मेरी बीवी घर के भीतर भी रहती है और कमाती भी है।"

बातें करते हुए वे दोनों मुख्य बाज़ार की राह पर चल पड़े हैं,

"अच्छा! क्या करती हैं भाभी?"

"अभी चार-पांच ही तो महीने हुए हैं; कपड़े सीने लगी है। पहले जब बच्चे छोटे थे तो उन्हीं में लगी रहती थी। बच्चों को स्कूल से लाने-ले-जाने से लेकर घर का राशन, बिजली बिल सब उसी के हिस्से था। अब बच्चे कुछ बड़े हो गए हैं तो मैंने सोचा ये दोपहरभर पलंग तोड़े या टी.वी. देखे, इससे अच्छा है, घर में ही थोड़ा कुछ काम करे जिससे चार पैसे भी पैदा हों इसलिए उसे सिलाई मशीन ला दी। उसने भी लगके रातोंरात काम सीख लिया।"

"तो अपनी चूड़ी-बिंदी का ख़र्चा निकालने लगीं भाभी?"

"चूड़ी-बिंदी का?? अरे पूछो मत, कितना ज़बरदस्त चल निकला है उसका काम! चार-पांच महीनों में ही ये नौबत आ गई है कि अब कभी वो हेल्पर रखवा देने को कहती है, कभी बुटीक खुलवा देने की ज़िद पकड़ती है। रात-रातभर मशीन चलती है फिर आर्डर पूरे नहीं हो पाते!"

"अरे वाह! फिर तुमने रख दिया हेल्पर?"

"नहीं यार! चार पैसे जुड़ें तो पहले! अभी फ़्लैट की किश्तें और तीन साल बाक़ी हैं। मेरी मोटरसाइकिल का लोन अलग। मैंने साफ़ कह दिया है, तुम ही ज़रा ज़्यादा मेहनत कर लो। बहुत है तो बर्तन मांजने को महरी लगा लो। घर का राशन और बिल वग़ैरह मैं देख लिया करूंगा अब से।"

"और भाभी मान गईं?"

"मानेगी नहीं तो जाएगी कहां? वैसे वो ज़्यादा लंबा नहीं खींचती किसी भी बात को। हर साल करवाचौथ पर दो साड़ियां, चप्पल, चूड़ियों से लेकर सिंगार-पटार तक सब दिलवा देता हूं; बस, फिर सालभर की फुर्सत।"

***संपर्क** : खेड़ापति हनुमान मंदिर के पास, सूद पेट्रोल पंप के पीछे, लाऊखेड़ी, एयरपोर्ट रोड, भोपाल-462030 (म.प्र.) मो. 8109352499*

"अरे ग़ज़ब! और हमारे घर में आए दिन यही महाभारत है कि आज ब्लाउज़ फट गया तो आज चप्पल नहीं है। अच्छा, एक बात तो बताओ। अब भाभी कमाने लगी है तो अपनी कमाई भी अपने पास रखती होंगी?"

"क्या उसकी कमाई और क्या मेरी कमाई; है तो सब घर और बच्चों के लिए ही ना! अभी दो महीने पहले तक तो मैं अपने ही खाते में जमा करता था उसके पैसे; पर मेरा बैंक इधर अपने शोरूम के पास है। अब कौन आए दिन जमा करता फिरे उसकी रेज़गारी टाइप आमदनी इसीलिए मैंने उसका ही खाता खुलवा दिया है, घर के पास वाले बैंक में।"

बातें करते वे दोनों बाज़ार पार करते सर्राफ़ा मार्केट की तरफ़ जा रहे हैं।

"भाभी पैसे कमाने लगी हैं, खाते में जमा करने लगी हैं तो ख़र्चने भी लगी होंगी"

"न! ये नहीं होता मेरे घर में। और उसे ज़रूरत ही क्या है, अपने खाते को छूने की? सब्ज़ी, गैस सिलेंडर से लेकर अख़बार तक के पैसे मैं उसे गिनकर देता हूं। महीने के ख़र्च से दस-पचास रुपए ऊपर ही देता हूं कि कभी उसका भी मन करता होगा बच्चों को दुकान से चिप्स-उप्स दिलाने का। घर की हरेक ज़रूरत को मैं उससे ज़्यादा जानता और पहचानता हूं। आज भी उसी के लिए कुछ ख़रीदने को अपने एटीएम से पैसे निकाले हैं। आज उसका चालीसवां बर्थडे है।"

"हूंअ! खूब ख़्याल रखते हो भाभी का! बड़ी मोहब्बत है घरवाली से??"

"मोहब्बत-ओहब्बत तो अपनी जगह ठीक है लेकिन बर्थडे तो यार, बड़ा ही इमोशनल मौक़ा होता है किसी के भी लिए। मैं तो हर बरस घर की ज़रूरत की कोई चीज़ ले देता हूं आज के दिन। पिछले साल नया एल.ई.डी. टी.वी. ले दिया था; बच्चे बड़े दिनों से चेंट रहे थे नई टी.वी. के लिए। उससे पहले के उसके बर्थडे पर नया कूलर उठाया था बाज़ार से। इस बहाने घर की ज़रूरत की एक बड़ी चीज़ भी आ जाती है और बीवी इतनी निहाल हो जाती है कि तब मुंह से उसके ज़ुबान नहीं निकलती; सीधे पैरों पर झुक जाती है!"

"वाह गुरु, मान गए! शोरूम में तो तुम ऐसे रहते हो मानो मौजूद ही न होओ; लेकिन अपने घर में पूरे शेर हो!"

"अपने घर में हर मर्द राजा ही होता है, कम-से-कम हिंदुस्तान में।"

अब वे दोनों एक सर्राफ़ा-दुकान में दाख़िल हुए हैं। सजी-संवरी बार्बी डॉल के जैसी एक सेल्सगर्ल उनका स्वागत करती है,

"आईए सर। प्लीज़ कम! बताएं, क्या देखना पसंद करेंगे?"

वे दोनों मामूली पुरुष एक सुंदर नवयौवना से महत्व और सम्मान पाकर गद्‌गद हो उठे हैं- अब तो ख़रीददारी यहीं से करनी है!

"छोटे टॉप्स दिखा दीजिए। बच्ची स्कूल में पहन सके, ऐसे।"

सेल्सगर्ल ने उनके लिए फ्रीजर वाला चिल्ड पानी मंगवाया और फिर भिन्न-भिन्न आकारों-प्रकारों वाला टॉप्स वाले मख़मली ट्रे शोकेस से निकालने लगी।

"पर तुम तो भाभी के लिए कुछ लेने की कह रहे थे ना?"

"हां। है तो ये एक तरह से उसी का बर्थडे गिफ़्ट। दरअसल जब हमने अपनी बिटिया का कर्णछेदन संस्कार करवाया था, तब से वो चांदी के टॉप्स पहने है; लेकिन इधर दो-एक साल से ज़िद करने लगी है कि सोने के टॉप्स पहनेगी क्योंकि उसकी क्लास की सब लड़कियां पहनती हैं। यों बीवी के पास हैं छोटी-छोटी बालियां उसके मायके की; लेकिन अगर वो बेटी को पहना देगी तो फिर खुद क्या पहनेगी? सो मैंने सोचा, टॉप्स गिफ़्ट कर दूं उसके इस बर्थडे पर। मैं जानता हूं वो अपने कानों में एक बार भी न डालेगी इन्हें; तुरंत बेटी को पहना देगी।"

"यार, तुम तो लगता है अपनी बीवी की सांसों का भी हिसाब रखते होओगे।"

सेल्सगर्ल अपनी खूबसूरत बातों और एटीट्यूड के बीच सोने के टॉप्स दिखाने लगी। शशिकांत ने बड़ी देर तक समझने-परखने के बाद एक जोड़ी छोटे, सादा लेकिन मज़बूत टॉप्स पसंद किए जिन्हें बेटी अपने पूरे स्कूली जीवन पहन सके और आगे भी हमेशा को उसके पास यह एक ज़ेवर हो जाए।

सुनार की दुकान से बाहर निकले तो वे दोनों एक ठेले पर रुक गए, जलज़ीरा पीने।

"कह तो वो सेलफ़ोन के लिए रही थी। ग्राहकों से बात करने के लिए शायद अब उसे एक सेलफ़ोन की सख़्त ज़रूरत है; पर मैंने कहा, और तू छह-सात महीने कैसे भी काम चला ले फिर मेरा ये हैंडसेट ले लेना। मैं अपने लिए नया ख़रीद लूंगा जब दीवाली पर बोनस मिलेगा।"

अब जयगोपाल पूरी तरह अभिभूत है शशिकांत के, बीवी को काबू में रखने के तरीकों से। वे फिर औरतों, मौसम और राजनीति पर तमाम बातें करते हुए मुख्य सड़क पर लौटते हैं और अपने-अपने रूट की बसें पकड़ते एक-दूसरे से विदा लेते हैं।

लोकल बस में घंटा भर सफ़र करके शशिकांत घर पहुंचा है। घर आज विशेष साफ़-सुथरा है। पत्नी ने आने-जाने में पहनने वाली साड़ी पहन रखी है। शृंगार कर रखा है। शशिकांत आगे बढ़कर उसे अपनी बांहों में इस तरह भर लेना चाहता है कि अपनी सहकर्मी कमउम्र लड़कियों से लेकर सर्राफ़ा-दुकान वाली बार्बी सेल्सगर्ल तक को छूने का सुख अपनी पत्नी के शरीर से पा सके। और सबको पा लेने के बाद वो उसे टॉप्स देगा- किसी प्रसन्न हुए महाराजा की तरह।

"पापा! पापा!"

दोनों बच्चे भीतर से दौड़ते चले आए हैं। उनके पास एक सेलफ़ोन है। शशिकांत ने आंखें गाड़कर फिर देखा। नहीं, खिलौना नहीं है! असली सेलफ़ोन!! -महंगा सेलफ़ोन!!!

"पापा देखो, मम्मी ने अपने बर्थडे पर ये खुद को गिफ़्ट किया। ये वही है जिसका एड मम्मी हमेशा देखा करती थीं। इसमें बहुत सारे गेम्स भी हैं हमारे लिए!" बच्चे बेहद खुश हैं।

"कितने का आया?"

"दस हज़ार का।"

"दस हज़ार का??? जानती हो दस हज़ार कितने होते हैं??"

शशिकांत के हाथ से खाने का ख़ाली डिब्बा लेते, वो रसोई में जाते कहती है,

"अभी मैंने गांव फ़ोन लगाया था। पहला कॉल अपने बाबूजी को किया। वे कह रहे थे, जानती हो दस हज़ार में कितने बोरे गेहूं आता है?? मैंने कहा, बाबूजी ये भी आज घर आकर यही पूछेंगे कि जानती हो दस हज़ार में कितने महीनों का राशन और दूसरा सामान आ जाता है।"

शशि को पानी का भरा गिलास थमाकर वो वापस अपने काम पर बैठ जाती है। एक नए कपड़े का नाप लेने में मशगूल वो कहती रहती है,

"लेकिन मैं ऐसा सोचती हूं कि..."

शशिकांत मुंह बाए देख रहा है। पंद्रह सालों में पहली बार, उसकी पत्नी इतनी तसल्ली और आत्मविश्वास से अपनी बात कह रही है... एकदम किसी आत्मनिर्भर, कामकाजी मनुष्य की तरह! ❑

● पांच कविताएं : **मंगलेश डबराल**



जन्म : 16 मई, 1948 (टिहरी गढ़वाल, उत्तराखंड)। अनेक कविता-संग्रह प्रकाशित। विभिन्न भारतीय और विदेशी भाषाओं में इनकी कविताएं अनूदित। कविता के अतिरिक्त साहित्य, सिनेमा, संचार माध्यम और संस्कृति पर नियमित लेख प्रकाशित। साहित्य अकादमी पुरस्कार सहित अनेक प्रतिष्ठित पुरस्कारों से सम्मानित।

काफलपानी : एक कविता क्रम के अंश

(काफलपानी वह जगह है जहां कवि का जन्म हुआ। काफल पहाड़ में पाया जाने वाला एक पेड़ है जिसके छोटे-छोटे बुग्गीदार फल खट्टे-मीठे बहुत स्वादिष्ट होते हैं और सिर्फ़ एक महीने तक आपके रहते हैं। काफल की जड़ों से होकर बहता पानी बहुत मिठास-भरा माना जाता है। तेज़ी से विलुप्त हो रहे पेड़ों में यह पेड़ भी शामिल है।)

घास और पत्थर

घास और पत्थर यहां एक साथ आए
कभी घास ने पत्थर को ढक दिया
और कभी पत्थर ने घास को अपने में छिपा लिया
घास ने चांद और तारों को छूने की कोशिश की
जैसे किसी स्वप्न में
पत्थर ने अपना आकार बढ़ाकर पहाड़ की शक्ल ले ली
ताकि लोग वहां रह सकें
यह एक सभ्यता के पनपने की कहानी थी
सन्नाटे में जब पानी चमकता तो संसार पारदर्शी हो उठता
जिसके दूसरी तरफ़ भी देखना मुमकिन था

घास और पत्थर का प्रेम जहां कहीं टूटता
वहां पानी सूखने लगता
आप जगह-जगह जो सूखे हुए धारे और न्योले* देखते हैं
वे इसी टूटे हुए प्रेम के निशान हैं।
*पहाड़ में पानी के स्रोत।

***संपर्क** : ई-204, जनसत्ता अपार्टमेंट, सेक्टर-9, वसुंधरा, ग़ाज़ियाबाद-201012*
मो. 09910402459



पानी और घास

घास रात में बढ़ती है जब आसपास निर्जन होता है
रात में देखना संभव होता तो उसे बढ़ते हुए देखा जा सकता है
दिन में कोई उसे बढ़ते हुए नहीं देख सकता
लेकिन सुबह जब लोग उठते हैं तो देखते हैं
वह कुछ और लंबी हो गई है
कल जहां एक बंजर था वहां भी कुछ उग आई है
रात का उन्मुक्त पानी घास के बीच बहता जाता है
उसकी आवाज़ रात को एक थरथराहट से भर देती है
और हवा में एक धीमी आदिवासी गंध उठती है

घास के लिए पानी जितना तरल हो अच्छा है
पानी को घास की हरी मांसलता पसंद है
रात उनका स्थायी पता है
पानी और घास एक शाश्वत प्रेम कथा के पात्र हैं।

पुराना पत्थर

सैकड़ों वर्षों से यह पत्थर यहीं रह रहा है
यह यहां रहने वाले मनुष्यों की तरह है
बल्कि उनसे कुछ पुराना और बेहतर
मसलन दूसरे लोगों के विपरीत यह हमेशा घर में रहा
इसने कभी बसों में धक्के नहीं खाए दूर शहरों की तरफ़ नहीं गया
अमीर कोठियों और कम तनख़्वाह की नौकरी करने
इसने न अपमान सहे और न इसे कभी घर की याद आई
कभी देवता बनने का ख़्याल भी नहीं आया।

यह आसपास ही बना रहा
बच्चों के खेलने की जगह पर
वहां जहां बूढ़े लोग उम्र के कठिन दौर में धूप सेंकते हैं
जहां एक थका हुआ आदमी इसे तकिया बनाकर कुछ देर लेट जाता है
या घर लौटती औरतें अपने बोझे उतार कर कुछ देर सुस्ताती हैं
अपनी संततियों को यह
नए बन रहे घरों की नींव में रहने के लिए भेजता रहा है

इस पर जो बहुत-सी लकीरें बनी हैं
वे दरअसल सभ्यताओं की ओर जाने वाले पुराने रास्ते हैं
जो अब सिकुड़ कर संकरे और अजनबी हो गए हैं
इसके भीतर एक छोटा-सा मुलायम पत्थर है
जो दिल के आकार का है
और इसे धड़कते हुए महसूस किया जा सकता है।।

भूत

यह एक ऐसा भूत है जो देवता बनते-बनते रह गया
जब भी भूत देवता बनने को होते हैं यह पिछड़ जाता है
हमेशा का फिसड्डी
जब यह मनुष्य था तब भी ऐसा ही था
बचपन में कक्षा में इसे सबसे पीछे बिठाया जाता था
कई बार फ़ेल भी हुआ
सेब और नाशपाती चुराकर स्कूल में लाता
अध्यापकों की आंख बचाकर उन्हें बेचता
और शाम को उस पैसे से घर के लिए राशन ले जाता
इसे बीड़ी-सिगरेट की लत भी लग गई
एक दिन पिता ने इसका स्कूल छुड़वा दिया
इसकी मृत्यु की ख़बर तभी लगी जब यह भूत बन गया

अब यह यहां रहता है
एक चबूतरे पर पीपल और सुरू के पेड़ों के नीचे
वहां जहां से गांव के दिखने की शुरुआत होती है
बुरी आदतों वाले इस भूत को सभी जानते हैं
यहां से गुज़रने वाले लोग थक कर जब यहां बैठते हैं
तो इसके लिए बीड़ी-सिगरेट
और अगर उनके पास हो तो शराब की कुछ बूंदें भी छोड़ देते हैं
अगर नहीं छोड़ें तो यह नुकसान कर सकता है
इसकी अनदेखी करने पर किसको क्या भुगतना पड़ा
इसके कई क़िस्से यहां प्रचलित हैं
हालांकि इसकी नुकसान पहुंचाने की जितनी भी ताक़त है
देवताओं के मुक़ाबले बहुत कम है।

चाची का भूत

भूतों की दुनिया में चाची के भूत की हैसियत कुछ अलग थी
उससे सब डरते थे
वह औरतों और ख़ासकर उन जवान बहुओं पर लगता
जिन्हें घर के कामों में चक्की की तरह पिसना पड़ता था

गांव के सबसे संपन्न घर की अकेली बहू यानी चाची
उसकी पसंदीदा शिकार थी
चाची के सर पर रोज़ काम का पहाड़ होता था
जब वह सुबह-शाम घर के लिए खाना पकाती
और फिर दिनभर खेत और जंगल के बीच खटती
तो कहीं पर भूत उसे जक़ड लेता
फिर बाक़ी को बुलाया जाता जो चाची को नचाता
डमरू-थाली धूप-दीप के साथ
उसकी मांगें मान ली जातीं और उससे वचन लिया जाता
कि फिर मत आना महाराज

लेकिन भूत था कि थोड़ी ही दूर पहाड़ की ओट में छिप जाता था
और जैसे ही चाची पर काम का बोझ बढ़ता
वह फिर से उसकी देह पर चिपट जाता
खेतों से घर लौटते हुए चाची की आंखें चढ़ी हुई होतीं
उसे बुख़ार आ जाता वह उठने से इनकार करती
और घर के सदस्यों को ऐसे देखती जैसे वे अजनबी हों
फिर से बाक़ी डमरू-थाली-धूप-चावल के साथ भूत को नचाता
बैठी हुई चाची का बदन देर तक ऐंठता रहता सांप की तरह
भूत धमकी देता मैं दैत्य हूं दैत्य नाम है मेरा कुचील
मैला-कुचैला मैं चट कर जाऊंगा तुम्हें और तुम्हारे ढोर-डंगर
चाची का भूत वह सब खरी-खरी सुनाता
जिसे चाची कह नहीं सकती थी भूत के वश में हुए बग़ैर

चाची पड़ी रहती दर्द और ऐंठन दूर करती हुई
कुछ दिन बाद फिर से शुरू हो जाती उसकी बेगार
घर खेत जंगल
चाची की कहानी सुनने वाला कोई नहीं था
सास-ससुर-पति-ननद कोई नहीं
जब भी वह ज़्यादा काम की शिकायत करती
इसे बहुओं की आम बहानेबाज़ी समझा जाता
गांव की दूसरी बहुएं ही थीं उसकी हमदर्द लेकिन उतनी ही लाचार
और फिर वही भूत कहीं पर चाची से चिपट जाता
पहले से ज़्यादा विकराल उतरने से करता इनकार

एक दिन खेतों से लौटते हुए चाची जब थकान से चूर थी
उसने ललकार कर इकट्ठा किए गांव के लोग
और बिना शर्म के बिना ओझा डमरू थाली के
नाचना शुरू किया एक बीहड़ नाच
चीख़ कर उसने कहा आज ही उतारती हूं अपना भूत
और एक-एक कर गिनाने लगी घर के लोगों के अन्याय
गालियों के साथ
एक संपन्न घर की बहू की बग़ावत जंगल की आग की तरह फैल गई
लोगों ने पहली बार देखा बिना भूत के चाची का विकराल रूप
लेकिन इसके बाद फिर लौटा नहीं वह भूत
घर के लोग चाची से घबराने लगे
उसके काम का बोझ बहुत कम कर दिया गया
उन्हें चाची के भूत के लौटने का डर था। ❑

• चार कविताएं : अनिल विभाकर



विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कविताएं प्रकाशित। मलयालम, अंग्रेजी और मैथिली में कई कविताएं अनूदित। दूरदर्शन और आकाशवाणी के साहित्यक आयोजनों में शिरकत। 'शिखर में आग' और 'सच कहने के लिए' दो कविता-संग्रह। पेशे से पत्रकार। दैनिक 'जनसत्ता' के रायपुर संस्करण व 'नवभारत' के भुवनेश्वर संस्करण के संपादक रह चुके हैं।

परंपरा

पूस में जब तक नहीं बनता पुसहा पिट्ठा
तब तक घर, घर जैसा नहीं लगता
बूंट का साग नहीं बनता
तो लगता है अपनी मिट्टी से दूर हूं
बहुत दूर

जब भी मन हुआ
घर में बनता रहा लिट्टी-चोखा
सरसों और खेसारी के साग तो
अगहन और पूस में ही बनते हैं
जाड़े में साग-भात खाने का अलग ही आनंद है
इनके स्वाद और गंध के बिना
नहीं कर सकते अपने प्रदेश की कल्पना

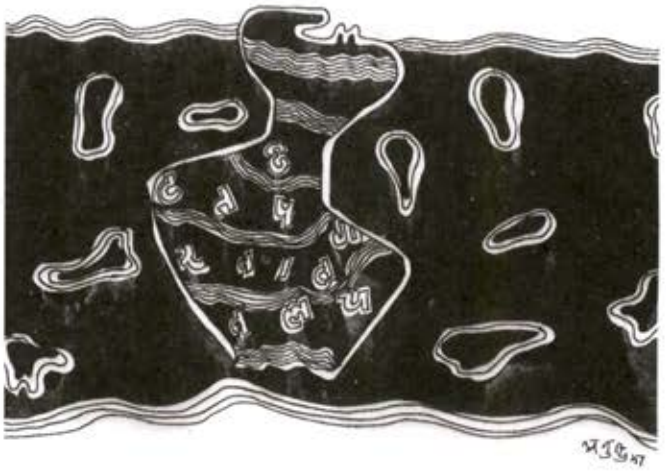
जाड़े में ही आती है गया के तिलकुट की याद
चूड़ा-दही की भी
जब आने वाली होती है मकर संक्रांति
आती है खिचड़ी की भी याद
याद आता है बौंसी का मेला भी
बौंसी में है मंदार पर्वत
जिससे हुआ था समुद्र मंथन
गया है विष्णुतीर्थ जहां विराजते हैं साक्षात् विष्णु

परंपराओं से जुड़ना दरअसल अच्छा लगता है
परंपराओं से कटना
लगता है जड़ों से कट जाना

पूस के महीने में घर में चावल का पीठा बनने से
होता है अपनी जड़ों से जुड़े होने का अहसास
लगता है जैसे पूस की ठंडी-गीली धूप में

संपर्क : फ़्लैट नं. 402, अन्नपूर्णा अपार्टमेंट, पुनाईचक, पटना-800023
मो. 09431076677





खेत में खड़ा हूं धान के पौधे की तरह
सिर पर भरी-पोखटाई बालियां लिए

पूस की कंपकंपाती ठंड में
जब नहीं बनता पुसहा पिट्ठा
मन में भरने लगती है उदासी
लगता है खलिहान में खंखरी धान की तरह
किसी कोने में पड़ा हूं तिरस्कृत-विस्मृत।

पहचान

देश की पहचान दिल्ली नहीं
देश की पहचान वाराणसी है
देश की पहचान गया और बोधगया है
देश की पहचान आगरा और मथुरा है
अमृतसर, अजमेर शरीफ़ और पुष्कर हैं देश की पहचान

देश की पहचान राजगीर और नालंदा
विक्रमशिला और तक्षशिला है
देश की पहचान रामेश्वरम् और तिरुपति हैं
नासिक और त्र्यंबकेश्वर हैं देश की पहचान
गंगा और यमुना से जाना जाता है यह देश

देश की पहचान हल की मूंठ थामे
मज़दूर और किसान हैं
जो दिल्ली की हरकतों से हैरान हैं
दिल्ली की हरकतें देश की पहचान नहीं हो सकतीं

कुतुब मीनार और जंतर-मंतर हो सकते हैं देश की पहचान
दिल्ली नहीं हो सकती

दिल्ली तो सल्तनत की पहचान है
भारत में दिल्ली ज़रूर है
मगर दिल्ली के पास दिल है कहां
दिल्ली तो बिना दिल वालों की पहचान है।

बिकने का जश्न

आज की खबर यह है कि वह सबसे महंगा खिलाड़ी है
उसके बल्ले में जादू है, बीस करोड़ में बिका
उसके बिकने पर कुछ लोग बहुत खुश हैं
कुछ लोग इसलिए खुश हैं कि वह उसके गांव का है

कुछ लोग इसलिए गौरवान्वित हैं
कि वह उसके स्कूल का विद्यार्थी था
कुछ को उसके सहपाठी होने का गौरव है
उसके बिकने पर लोग मिठाइयां बांट रहे हैं
लोगों को उम्मीद है एक न एक दिन
वह भारत रत्न बनेगा

ताज्जुब है मवेशियों के बिकने पर लोग इतने खुश नहीं होते
जितने एक आदमी के बिकने पर
सवाल है दफ़्तर का कोई बाबू
जब महज़ लाख-दो लाख में बिक जाता है
तो लोग खुश क्यों नहीं होते?
क्यों समझते हैं उसे पतित?

आदमी का बिकना आज सबसे बड़ी ख़बर है
आदमी के बिकने पर
अब कोई शर्मिंदा नहीं होता
यह बिकने का युग है
बिकाऊ बनना नया फ़ैशन
इसी तरह बिक कर लोग बन जाते हैं भारत रत्न
देश जश्न मनाता है
और राजगद्दी पर बैठे लोग बिकाऊ हो जाते हैं

बाज़ार है भाई बाज़ार
यहां जो बिकता नहीं वह किसी काम का नहीं।

साज़िश

उनका यह सबसे ख़तरनाक हमला है
वे बना रहे हैं बीज को बांझ
चाहते हैं किसानों से बीज छीनना

वे बनाते हैं बेजान अंडे, बांझ मुर्ग़ियां
नपुंसक दाने
बीज वे अपने पास रखना चाहते हैं
खेतों में लहलहाना चाहते हैं बांझ फ़सलें
बांझ दानों से भर देना चाहते हैं किसानों की कोठियां

बीज पर हक़ तो हर आदमी का है ना
बाज़ार चाहता है सबकी हकमारी करना

जिस दिन पूरी तरह बीजहीन हो जाएंगे किसान
चहक उठेगा बाज़ार, उदास हो जाएंगे खेत
कल्पना कीजिए जब सब हो जाएंगे बांझपन के शिकार
वैसी लगेगी यह दुनिया।
बीज सिर्फ़ बीज भर नहीं- उम्मीद है
हमारी, आपकी, पूरी दुनिया की
बचाइए इसे
बिना उम्मीद के आगे नहीं चलती दुनिया। ❑

आजकल का ग्राहक बनें :

मैं आपकी पत्रिका----------का ❑ एक वर्ष (230 रुपये) ❑ दो वर्ष (430 रुपये) ❑ तीन वर्ष (610 रुपये) का ग्राहक बनना चाहता हूं। शुल्क का रुपये----------डिमांड ड्राफ्ट ----------दिनांक----------संलग्न है।

हस्ताक्षर----------

नाम
:----------

पता
:----------

पिन : ❑❑❑❑❑❑

- कृपया अपना चंदा डी.डी. *अपर महा निदेशक (प्रभारी), प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय* के नाम बनाएं।
- पत्रिका भेजने में, चंदा प्राप्त होने के बाद, आठ से दस सप्ताह का समय लगता है। कृपया इतने समय प्रतीक्षा करें।
- दिल्ली से प्रकाशित हमारी अन्य पत्रिकाएं हैं : *बाल भारती, आजकल* (उर्दू), *कुरुक्षेत्र* (हिंदी व अंग्रेज़ी), *योजना* (हिंदी, अंग्रेज़ी, उर्दू, पंजाबी व उड़िया)।

चंदा निम्न पते पर भेजें :

संपादक (प्रसार)

प्रकाशन विभाग, कमरा नं 56, सूचना भवन, सीजीओ कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, नई दिल्ली–110003

● चार कविताएं : **पंकज चौधरी**



जन्म : 16 सितंबर, 1976, विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं, वेबसाइट्स, ब्लॉग्स और ई-पत्रिकाओं में आलेख और कविताएं प्रकाशित। 'उस देश की कथा' कविता-संग्रह प्रकाशित। कई प्रतिष्ठित सम्मान प्राप्त। संप्रति : कैलाश सत्यार्थी चिल्ड्रेन्स फ़ाउंडेशन में सीनियर कंटेंट राइटर।

आत्मविश्वास

तुम आत्मविश्वास खो चुके हो
इसीलिए कोई भी तुम्हें डरा देता है
प्रकृति भी तुम्हें डरा देती है

ऐसा करो
तुम सबको डराना शुरू करो
और कुछ भी करना शुरू करो

कुछ नहीं करने से ही आदमी
आत्मविश्वास खोता है
और कुछ करने से ही आदमी
आत्मा का और दुनिया का विश्वास पाता है

देखना
लोग खुद-ब-खुद तुमसे डरते चले जाएंगे
और प्रकृति भी तुम्हारी दासी बनती चली आएगी।

लड़ना ज़रूरी है

लड़ो
क्योंकि लोगों ने लड़ना छोड़ दिया है

लड़ो
क्योंकि बग़ैर लड़े कुछ नहीं मिलता

लड़ो
क्योंकि बग़ैर लड़े घुट-घुटकर जीना पड़ता है
लड़ो
क्योंकि अभी तक तुम्हें जो कुछ भी मिला है
लड़कर ही मिला है

लड़ो
क्योंकि लड़ने वाले का इंतज़ार होता है

लड़ो
क्योंकि नहीं लड़ने से ही जंगलराज क़ायम होता है

लड़ो
क्योंकि बग़ैर लड़े इंसान पिट्ठू बन जाता है

लड़ो
क्योंकि जो लड़ेगा वही बचेगा

लड़ो
क्योंकि बग़ैर लड़े
इंसान को अंधा, बहरा, गूंगा और लूला माना जाता है

लड़ो
क्योंकि नहीं लड़ोगे तो लोग तुम्हें खा लेंगे

लड़ो
क्योंकि बग़ैर लड़े अग्नि स्वर्ग से पृथ्वी पर नहीं लाई जाती

लड़ो
क्योंकि तुम्हारे पास खोने के लिए कुछ भी नहीं

लड़ो
क्योंकि पाने के लिए ही तुम्हारे पास सारा जहान है।

तुम मुरझाओ नहीं

तुम मुरझाओ नहीं
तुम्हें कोई नहीं रौंद सकता
कोई नहीं कुचल सकता

भला दूब को कोई रौंद पाया है आजतक
उसे कोई कुचल पाया है अबतक
उसे लाख रौंदो
लाख कुचलो
वह उग ही आती है
धरती का सीना फाड़कर
उद्भिज की तरह

तुम बिलकुल वही दूब हो
जिसकी जड़ें बहुत-बहुत गहरी हैं
पाताल तक

मैं हार नहीं मानूंगा, तो तुम जीतोगे कैसे

मैं हार नहीं मानूंगा
तो तुम जीतोगे कैसे

मैं रोऊंगा नहीं
तो तुम हंसोगे कैसे

मैं दुखी दिखूंगा ही नहीं
तो तुम सुख की अनुभूति करोगे कैसे

मैं ताली ही नहीं बजाऊंगा
तो तुम ताल मिलाओगे कैसे

मैं अभिशप्त नायक ही सही
लेकिन तू खलनायक से कम नहीं

मैं खुद्दारी की प्रतिमूर्ति ही सही
लेकिन तू किसी पतित से कम नहीं

माना कि प्रकृति भी मेरे साथ नहीं
लेकिन प्रकृति तो सदैव तेरी दास नहीं

तुम मुझे क्या अपमानित करोगे
तुम खुद सम्मानित नहीं

तुम मुझे औक़ात में क्या रखोगे
तुम्हारी खुद की कोई औक़ात नहीं

तुम मुझे क्या डराओगे
तुम तो मुझसे खुद डरते हो

मेरे ऊपर तुम क्या शक करोगे
विश्वास तुम्हें खुद अपने ऊपर भी नहीं
तुम मेरा रास्ता क्या रोकोगे
तुम्हारा रास्ता अपने-आप है बंद होने वाला

तुम मेरा इतिहास क्या खंगालोगे
तुम्हारा इतिहास तो खुद है दाग़-दाग़

मैं राहु का वंशज सही
लेकिन तुम भी चंद्रमा के रिश्तेदार नहीं!

शैतानों की टापें तो हवा-हवाई होती हैं। ❑

***संपर्क** : 348/4ए गोविंदपुरी, कालकाजी, नई दिल्ली-110019*
मो. 9910744984

• पांच ग़ज़लें : **विपिन जैन**



जन्म : 1 दिसंबर, 1954 लेखन की शुरुआत लघुकथाओं से। ग़ज़लें, लघुकथाएं, कहानियां विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। विधागत् लेखन के अतिरिक्त आलेख-लेखन में भी अभिरुचि। सेवानिवृत्त, उत्तर रेलवे, नई दिल्ली।

(1)

कब कहोगे अगर चुप रहोगे अभी
इंतज़ार और कितना करोगे अभी

बात जो होंठ तक आ सकी ना कभी
और कितना दबाकर चलोगे अभी

दास्तां जो अधूरी अभी है उसे
उम्रभर साथ यूं ही रखोगे उसे

ढूंढ लेते कभी कोई लौ तुम सबब
ज़िंदगी को मगर क्या कहोगे अभी

सांसभर का ही तो खेल है बस यहां
खेल को किस तरह ले चलोगे अभी

रातभर है यहा रंग-ए-महफ़िल जवां
सुबह होने तलक क्या रुकोगे अभी

जल रहा आस्मां, जल रही है ज़मीं
जो बचा है उसे पा सकोगे अभी!

(2)

न मेरी खुशी की, न तेरी खुशी की
चले बात कोई तो हो वो सभी की

जुदा ये फ़साने तो सबके अपने
मगर दुख बयानी थी एक सी सभी की

जिसे दोस्ती के लायक़ न समझा
उसी ने दिखाई वफ़ा दोस्ती की

रखा जिसने ठोकर पे अपने ज़माना
ज़माने ने मानी थी ताक़त उसी की

अकेले कटेगी न ये ज़िंदगी तो
ज़रूरत कभी तो पड़ेगी किसी की

अंधेरों को देखो तो बदली नज़र से
उन्हीं में ही चलती किरण रोशनी की

ये धरती रहेगी, ये मौसम रहेंगे
मगर धुन रहेगा न ये ज़िंदगी की।

(3)

घर से निकलो तो पता लगता है
रंगे ज़िंदगी से भरा लगता है

सुबह जो दिन साथ होता है मेरे
शाम तक वो भी गया लगता है

रास आ जाता है वो भी एक दिन
पहले जो अक्सर बुरा लगता है

कितनी बेहिस है ये दुनिया भी
पास आकर ही पता लगता है

फ़र्क़ तो बस देखने भर का है
क्या बुरा या क्या भला लगता है

ज़िंदगी के साथ चलकर देखो
उसके रंगों का पता लगता है

वो शजर जो खुश हवा में खिलता
जब भी देखो वो हरा लगता है

तुम ज़रा-सा मुस्करा के देखो
मुस्करा देने में क्या लगता है।

(4)

बीती बातें फिर फिर याद दिलाना क्या
ज़ख़्म दिए जो उसने उसे दिखाना क्या

कभी-कभी तो अपना विरोध भी दर्ज करें
रह-रहकर खुद को ही समझाना क्या

जीवन में जो पाया, लगा अधूरा-सा
आख़िर दुनिया से था हमको पाना क्या

तेरी मेरी उसकी बातें साथ चलीं
इस दुनिया से हमको था ले जाना क्या

जब भी टूटा ये दिल हमने मना लिया
दिल ही तो है इस दिल को बहलाना क्या

दीवाना हूं दिल की बस्ती में रहता
दुनिया में है मेरा और ठिकाना क्या

किसी बात पे कोई फ़र्क नहीं पड़ता
तेरी महफ़िल क्या मेरा वीराना क्या।

(5)

कभी खुद से खुद को उभारा कहां था
मैं बिखरा रहा पर संवारा कहां था

नज़ारे थे बहुत खूबसूरत तो वहां के
जो ठहरे नज़र में नज़ारा कहां था

कहां पांव रखता मैं उमड़ी नदी में
जहां मैंने समझा किनारा कहां था

वो ज़िद थी तुम्हारी ये ज़िद है हमारी
मगर यूं ज़िदों से गुज़ारा कहां था

सहारा बहुत है एक तिनके भर का
मिला पर हमें वो सहारा कहां था

कभी ज़िंदगी के मौसम हंसीं थे
किसी ने तो दिल से पुकारा कहां था

ज़मानों ने मिलकर बिगाड़ा उसे था
नसीबे ने उसके बिगाड़ा कहां था। ❑

संपर्क : के.आई.-147, कविनगर, ग़ाज़ियाबाद मो. 9873929729

बाल काव्य की दशा, दिशा और संभावनाएं

रोहिताश्व अस्थाना



जन्म : 1 दिसंबर, 1949 (हरदोई उ.प्र.)। बाल साहित्य में विशेष नाम। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में आलेख, साक्षात्कार, कहानियां और कविताएं प्रकाशित। 'हिंदी गज़ल : उद्भव और विकास' नाम से शोध-ग्रंथ प्रकाशित।

बालक के सर्वांगीण विकास में अनौपचारिक शिक्षा के रूप में बाल साहित्य का विशेष योगदान है। बाल साहित्य से हमारा आशय उस साहित्य से है जो बड़ों और बच्चों द्वारा बालक की रुचियों, मनोवृत्तियों, जिज्ञासाओं, अपेक्षाओं एवं बाल परिवेश को केंद्र बिंदु मानकर लिखा जाए। बाल साहित्य की अनेक विधाएं हैं। यथा-बाल काव्य, बाल कथा, बाल उपन्यास, बाल नाटक, बाल एकांकी, बाल जीवनी, बाल यात्रा, ज्ञान-विज्ञान संबंधी आलेख, सूचनापरक बाल साहित्य, आख्यायिका आदि।

इनमें बाल काव्य की लोकप्रियता सर्वाधिक है। अपनी योग्यता, लयात्मकता, संगीतात्मकता एवं भाषा की सरलता के कारण बाल कविता बच्चों को सहज रूप में प्रभावित करके उनके मन एवं कंठ में उतर जाती है। हिंदी बाल साहित्य में बाल कविता की एक विशाल एवं प्राचीन परंपरा विद्यमान है। हालांकि युवा आलोचक और 'बनासजन' पत्रिका के संपादक पल्लव 13 नवंबर, 2017 के 'दैनिक जागरण' के 'पुनर्नवा' पृष्ठ पर प्रकाशित अपने आलेख 'नए ज़माने में बाल साहित्य' में प्रश्न करते हैं कि बड़े और प्रसिद्ध हिंदी रचनाकार आमतौर पर बच्चों के लिए क्यों नहीं लिखते? इस संदर्भ में सूच्य है कि हिंदी के सर्वप्रथम बाल-काव्यकार महाकवि सूरदास हुए जो अपनी अंतर्दृष्टि से वात्सल्य का कोना-कोना झांक आए हैं। उन्होंने कृष्ण की बाल-लीलाओं का जिस मनोवैज्ञानिक ढंग से निरूपण किया है, वह आज भी हमारे बाल साहित्यकारों को लेखन की नई दिशा प्रदान करने में सक्षम है।

बालक कृष्ण चांद रूपी असाधारण खिलौने को पाने के लिए यशोदा मैया से रूठ जाते हैं। वे भूमि पर लोट जाने और उनकी गोद में न आने की धमकी भी दे बैठते हैं परंतु बालमन को समझने वाली चतुर यशोदा मैया इस समस्या का समाधान भी बड़ी दूरदर्शिता से करती हैं। वे पूर्णिमा की रात्रि के प्रथम प्रहर में सोने के थाल में जल मंगाकर आंगन में रख देती हैं। उसमें पूर्ण चंद्र की परछाई पड़ती है और यशोदा मैया कृष्ण से कहती हैं कि लो अपना यह चंद्र खिलौना। महाकवि सूरदास की यह पंक्तियां बाल कविता का सच्चे और सहज रूप से प्रतिनिधित्व करती हैं- मैय्या, मैं तो चंद्र खिलौना लैहों/जैहों लोटि धरनि पर अब हीं, तेरी गोद न ऐ हों।'

तभी से बाल काव्य-लेखन की स्फुट परंपरा चल निकली। अनेक रचनाएं तो ऐसी हैं जिनके रचयिताओं का कहीं नाम ही नहीं मिलता! जैसे 'सुख-सुख पट्टी, चंदन घट्टी/बाबा के बाग में झंडा गड़ा/झंडा गया सूख, पट्टी गई सूख'।

इन अभिलिखित एवं लोक प्रचलित बाल कविताओं से प्रेरणा लेकर बाल साहित्यकारों ने लेखन प्रारंभ किया।

***संपर्क** : बावन चुंगी चौराहा, हरदोई-241001 (उ.प्र.) मो. 7607983984*

आरंभिक प्रयासों में भारतेंदु हरिश्चंद्र और महावीर प्रसाद द्विवेदी की बाल कविताएं मिलती हैं। इस परंपरा को आगे बढ़ाने में पं श्रीधर पाठक ने महत्वपूर्ण कड़ी का कार्य किया। इन्होंने बच्चों के प्रिय पशु-पक्षियों पर छोटी-छोटी कविताएं लिखीं।

स्वतंत्रता पूर्व के बाल रचनाकारों में इन कवियों के अतिरिक्त कामता प्रसाद गुरु, अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', मैथिलीशरण गुप्त, विद्याभूषण 'विभु', मन्नन द्विवेदी गजपुरी, राम नरेश त्रिपाठी, भूप नारायण दीक्षित, श्रीनाथ सिंह, सोहनलाल द्विवेदी, सुभद्रा कुमारी चौहान, आरसी प्रसाद सिंह, शंभूनाथ सक्सेना, रमापति शुक्ल आदि का सर्जनात्मक योगदान रहा।

स्वातंत्र्योत्तर काल के बाल कवियों एवं गीतकारों में निरंकार देव 'सेवक', विष्णुकांत पांडेय, चंद्रपाल सिंह यादव 'मयंक', राष्ट्रबंधु, रामवचन सिंह आनंद, विनोद चंद्र पांडेय, चिरंजीत, श्रीप्रसाद, धर्मपाल शास्त्री, देवेंद्र दत्त तिवारी, द्वारिका प्रसाद माहेश्वरी, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, बाल स्वरूप राही, शेरजंग गर्ग, चक्रधर नलिन, अशोक एम. एम., सीताराम गुप्त, कृष्णकांत तैलंग, सरस्वती कुमार 'दीपक', नारायण लाल परमार, नर्मदा प्रसाद खरे, हरिकृष्ण देवसरे, शकुंतला सिरोठिया, सरोजनी कुलश्रेष्ठ आदि वरिष्ठजनों का योगदान रहा है।

साठोत्तरी हिंदी बाल काव्यकारों में मेरे साथ-साथ सूर्य कुमार पांडेय, सुरेंद्र विक्रम, अजय प्रसून, अजय शर्मा, उषा यादव, विमला रस्तोगी, नागेश पांडेय संजय, रामकुमार गुप्त, धीरेंद्र कुमार यादव, शिवचरण चौहान, श्याम सुंदर श्रीवास्तव 'कोमल', ज़हीर कुरेशी, राजा चौरसिया, राजनारायण चौधरी, परशुराम शुक्ल, कृष्ण शलभ, रंजना वर्मा, सुलेखा पांडेय आदि की लेखन यात्रा जारी है।

बच्चों के आयुवर्ग के आधार पर बाल कविताओं के तीन प्रमुख भेद माने गए हैं। ये हैं-शिशुकविता, बाल कविता और किशोर कविता।

शिशु कविता के अंतर्गत 5 वर्ष तक के बच्चों के लिए लिखी गई चार से आठ पंक्ति वाली वे कविताएं आती हैं, जो शिशुओं के प्रिय विषयों पर सरल भाषा में तुकबंदी, ध्वन्यात्मकता एवं लयात्मकता को आधार बनाकर लिखी जाती है। शिशु कविताओं के दो संकलन तीन-तीन भागों में हिंदी प्रचारक संस्थान, वाराणसी द्वारा 'नन्ही कविताएं' एवं 'रिमझिम' शीर्षक से क्रमशः रोहिताश्व अस्थाना एवं श्यामलाकांत वर्मा के संपादन में प्रकाशित किए गए। यह संकलन अपने-आप में शिशु कविता के इतिहास को भी रेखांकित करते हैं। इनके अतिरिक्त निरंकार देव सेवक की शिशु कविताओं का एक संग्रह 'बिल्लो के गीत' के नाम से अपने समय में प्रकाशित और चर्चित हुआ था। उनकी एक रचना दृष्टव्य है- 'बाबा पढ़ते हैं अख़बार/अपनी आंखें करके चार/ऐनक दिखा रही है शान/चढ़ी नाक पर पकड़े कान'।

वास्तव में यह शिशु कविताएं ही हैं जिन्हें प्रायः लोग 'शिशुगीत' कहते हैं। कविता और गीत के शिल्पविधान में मौलिक अंतर है। शिशु

कविताएं बड़ों द्वारा शिशुओं को सुनाकर याद करा दी जाती हैं, क्योंकि उस आयु में वे उन्हें पढ़ नहीं सकते। चित्रों को देखकर और पंक्तियों को सुनकर वे उनका भाव अवश्य समझ लेते हैं।

बाल कविताएं वे हैं, जो 5 वर्ष से 12 वर्ष तक के बच्चों के मनोविज्ञान, उनकी ग्राहय क्षमता एवं उनके परिवेश को ध्यान में रखकर लिखी जाती हैं। बाल कविताओं और बाल गीतों के कई संपादित संकलन इधर काफ़ी लोकप्रिय हुए हैं। इनमें नवीन रश्मि द्वारा संपादित 'हिंदी के श्रेष्ठ बाल गीत', जय प्रकाश भारती द्वारा संपादित 'हिंदी के श्रेष्ठ बाल गीत', हरिकृष्ण देवसरे द्वारा संपादित 'हिंदी की सौ बाल कविताएं', रोहिताश्व अस्थाना द्वारा संपादित 'चुने हुए बाल गीत', अनिल चेतन द्वारा संपादित 'हिंदी के सौ बालगीत' तथा श्रीप्रसाद द्वारा संपादित 'प्रतिनिधि हिंदी बाल गीत' प्रमुख हैं।

किशोर कविता के अंतर्गत 12 से 16 वर्ष की आयु को ध्यान में रखते हुए लिखी गई कविताएं आती हैं। इन कविताओं की भाषा अपेक्षाकृत स्तरीय तथा विषयवस्तु किशोरों की आशाओं, आकांक्षाओं, उमंगों एवं अपेक्षाओं के अनुरूप और प्रेरक होती हैं। बहुत पहले किशोर कविता को प्रचार-प्रसार देने वाली पत्रिका 'किशोर लेखनी' देवेंद्र कुमार 'देवेश' के संपादन में निकला करती थी। किशोर कविता का एक उदाहरण देखें- 'तुझको या तेरे नदीश, गिरिवन को नमन करूं मैं/मेरे प्यारे देश। देह या मन को नमन करूं मैं/किसको नमन करूं मैं भारत, किसको नमन करूं मैं।'

विषयवस्तु के आधार पर बाल कविताओं के निम्न भेद हो सकते हैं, जिनके अंतर्गत विपुल मात्रा में बाल काव्य का सृजन हुआ है। ये हैं- लोरियां, प्रभाती, प्रयाणगीत, खेल-कूद संबंधी गीत, राष्ट्रीय गीत, लोक शैली पर आधारित बाल गीत, ऋतु-पर्व संबंधी गीत, महापुरुषों पर आधारित बालगीत, वैज्ञानिक एवं पर्यावरणीय विषयों पर आधारित गीत, विविध बालगीत, गीत कथाएं आदि।

माताएं सामान्यत: लोरी गाकर अपने बच्चों को थपकी देते हुए सुलाती हैं। इनमें रात, चांद-परी नींद आदि का चित्रण होता है। लोरी का नाम आते ही शकुंतला सिरोठिया, सरोजनी कुलश्रेष्ठ के नाम अनायास ही स्मरण हो आते हैं और लगता है कि माताएं ही सर्वोत्तम लोरिया लिख सकती हैं। ये दोनों ही लोरी लेखन में सिद्ध और प्रसिद्ध हैं। शकुंतला सिरोठिया की लोरियों के संकलन 'आ री निंदिया' तथा 'सोओ सुख निंदिया' के नाम से छपे हैं। इसी प्रकार सरोजनी कुलश्रेष्ठ की लोरियां 'आ जारी निंदिया' शीर्षक कृति में संकलित हैं। सरोजनी ने बालकों के साथ-साथ बालिकाओं के लिए भी समान रूप से लोरियां लिखी हैं। यथा-'सो जा मेरे राज दुलारे/सो जा मेरे दृग के तारे/सो जा मेरी बिटिया रानी/सो जा सुख-सपनों की रानी'।

इधर हाल ही में सुधा गुप्ता अमृता की लोरियों एवं प्रभातियों की कृति प्रकाशित और चर्चित हुई है।

प्रभातियों की बात आते ही महाकवि सूरदास की 'जागिए ब्रजराज कुंअर पंछी बन बोलें' नायक पंक्तियां सहज ही स्मरण हो आती हैं। सरोजनी कुलश्रेष्ठ का प्रभाती संग्रह 'भोर भई अब जागो प्यारे' विशेष चर्चा में रहा है। ये प्रभातियां माताएं बच्चों को जगाने के लिए प्राय: गाती-गुनगुनाती हैं। इनमें प्रभात का प्राकृतिक वर्णन सहज रूप से मिलता है। इस संदर्भ में सरोजनीजी की कुछ पंक्तियां उल्लेखनीय हैं। यथा- 'फूलों ने पांखें खोली हैं/तुम भी अपनी आंखें खोलो/ये धुली ओस के जल से/तुम भी अपनी आंखें धो लो?'

प्रयाण गीतों में बच्चों को देश की आन-बान-शान की रक्षा करने के लिए आगे बढ़ने का उद्‌बोधन सन्निहित रहता है। एक उदाहरण देखें-'वीर तुम बढ़े चलो/धीर तुम बढ़े चलो/तुम निडर हटो नहीं/तुम निडर डटो वहीं' (द्वारिकाप्रसाद माहेश्वरी)

बच्चों में खेल-कूद के प्रति रुचि जाग्रत करना तथा इस क्षेत्र में अनुकरणीय व्यक्तियों से प्रेरणा दिलाना ही खेल-कूद संबंधी बालगीतों की रचना का मूल उद्‌देश्य होता है। यथा- 'चलो अखाड़े, पेलो डंड/बनना तुमको बज्र प्रचंड' अथवा 'चाई-मांई खेलो/परेशानियां झेलो'।

(डॉ. राष्ट्रबंधु)

बच्चों में राष्ट्रीय भावना भरना तथा उन्हें सच्चा देशभक्त बनकर देश की रक्षा के लिए हंसते-हंसते अपने को बलिदान करने के लिए प्रेरित करना आज की अनिवार्यता बन गई है। बाल साहित्यकारों ने इस दायित्व का कुशलतापूर्वक निर्वाह किया है-'जननी की जय बोलेंगे/ अपनी ताकत को तोलेंगे/ हम धीर-धीर कहलाएंगे / भारत की ध्वजा उड़ाएंगे।' (सोहनलाल द्विवेदी)

लोकशैली पर आधारित रचनाएं राष्ट्रबंधु एवं श्रीप्रसाद ने विशेष रूप से लिखी हैं। राष्ट्रबंधु की यह पंक्तियां तो बच्चे उनके साथ ही गुनगुना उठते हैं-

'अक्कड़-बक्कड़ बम्बे बो / अस्सी-नब्बे पूरे सौ / सौ में लगा तागा / चोर निकलकर भागा/देश हमारा जागा।'

ऋतुओं और पर्वों पर भी पर्याप्त संख्या में बाल गीत लिखे गए हैं। होली, दीवाली आदि पर तो प्रति वर्ष बहुत से बालगीत लिखे जाते हैं परंतु ईद, क्रिस्मस आदि पर बहुत कम बाल गीत लिखे गए हैं। इस प्रकार की रचनाओं की कुछ पंक्तियां दृष्टव्य हैं- 'कितना सुंदर चांद ईद का/अथवा 'क्रिस्मस का त्यौहार सलोना/करता-फिरता सारे जग पर/शांति-प्रेम का जादू-टोना।'

(रोहिताश्व अस्थाना)

बापू, नेहरू, शास्त्री, इंदिरा, सुभाष आदि पर बाल-काव्य ही नहीं, अपितु बाल खंड काव्य भी लिखे गए हैं। विनोद चंद्र पांडेय कृत 'जय सुभाष' तथा रोहिताश्व अस्थाना कृत 'जय इंदिरा' उपयोगी एवं प्रेरक बाल खंड काव्य हैं। बच्चों को हंसाने और गुदगुदाने वाली कविताएं भी लिखी गई हैं जिनमें राष्ट्रबंधु 'मामाजी' तथा सुंदर लाल अरुणेश की 'चांदी का चूहा' शीर्षक रचनाएं चर्चित रही हैं।

आज का युग विज्ञान का युग है। इक्कीसवीं सदी विज्ञान की सदी है। अत: विज्ञान और पर्यावरण संबंधी बाल गीत भी लिखे गए हैं। विनोदचंद्र पांडेय 'विनोद' के संपादन में 'बाल कविता' वार्षिक पत्रिका के विज्ञान एवं पर्यावरण विशेषांक इस दिशा में विशेष चर्चित रहे हैं। घमंडी लाल अग्रवाल ने भी अच्छे बाल विज्ञान गीत लिखे हैं। इन विषयों पर गौरी शंकर वैश्य 'विनम्र' के दो बाल काव्य-संग्रह विगत वर्ष प्रकाशित एवं चर्चित हो चुके हैं। मेरी बाल-कविता 'रोबोट' तथा मधु पंत की रचना 'पर्यावरण बचाना है' की खूब चर्चा हुई है। विनोदचंद्र पांडेय की एक रचना देखें- 'पर्यावरण संतुलित रखना/है कर्त्तव्य हमारा/ हो न प्रदूषित पवन, वारि, ध्वनि/बहे सुखों की धारा।'

इन दिनों बाल पहेलियां लिखने का भी खूब प्रचलन है। बाल पहेलियों का जनक अमीर खुसरो को माना जाता है। उनकी एक बाल पहेली देखें- 'एक थाल मोती से भरा/सबके सिर पर उलटा धरा।' वर्तमान में नागेश पांडेय संजय, श्याम सुंदर श्रीवास्तव 'कोमल' आदि अच्छी बाल पहेलियां लिख रहे हैं। अजय शर्मा 'यात्री' की बाल पहेलियों के दो संकलन भी इधर प्रकाशित और चर्चित हुए हैं।

विविध विषयक बाल गीतों के अंतर्गत समस्त बाल परिदृश्य को रचनाकारों ने वाणी दी है। निरंकारदेव सेवक, चंद्रपाल सिंह यादव 'मयंक', विष्णुकांत पांडेय, राम वचन सिंह आनंद, भैरूं लाल गर्ग, हरीश निगम आदि ने उत्कृष्ट गीत-कथाएं और बाल कविताएं लिखी हैं।

मुनिलाल उपाध्याय 'सरस' ने हाइकू से मिलती-जुलती शैली में तीन-तीन पंक्तियों की बाल रचनाएं लिखकर उनका प्रवर्त्तन 'बाल त्रिशूल' के नाम से किया है जो उनकी कृति 'बाल प्रमाण' में छपे है! बच्चों के लिए कई रचनाकारों ने बाल दोहे भी लिखे हैं। भाई सूर्य कुमार पांडेय व अशोक अंजुम के बाल दोहे पत्र-पत्रिकाओं में काफी चर्चित रहे है।

बच्चों के लिए बाल ग़ज़लें लिखने की शुरुआत निरंकार देव

पृष्ठ 50 पर जारी....

बाल-साहित्य : प्राचीन से अर्वाचीन तक

विनोद कुमार सिन्हा



जन्म : 18 फरवरी, 1942 । निबंधकार, कहानीकार, समीक्षक एवं कवि। कई महत्वपूर्ण पुस्तकों का संपादन। आकाशवाणी से कहानियां एवं वार्ता प्रसारित। विभिन्न विषयों पर प्रमुख पुस्तकें प्रकाशित। कई पुरस्कारों से सम्मानित।

बाल-साहित्य का उद्देश्य बच्चों की सृजनात्मक शक्तियों को सक्रिय करना और बच्चों के जीवन की सर्वोत्तम क्रिया-सृजन में प्रवृत्त करना तथा इस प्रकार उनके बौद्धिक विकास में सहायक होना है। मस्तराम कपूर जब बाल साहित्य के बारे में यह उद्‌गार व्यक्त करते हैं तो वे वस्तुत: इस राय को रेखांकित कर रहे होते हैं कि बालक के जन्म का इतिहास जितना पुराना है, बाल साहित्य का इतिहास भी उतना ही पुराना है।

कैसा साहित्य बालोपयोगी हो? बाल मन स्वच्छ, पवित्र, निश्छल और दोषमुक्त होता है। उसमें न छल-प्रपंच होता है न कुरीतियां होती हैं और न पापजनित अवगुण होते है। अत: ऐसा साहित्य ही बालोपयोगी हो सकता है जो सरल, सुबोध, मनोरंजक हो, बालक की जिज्ञासा को शांत करे और जिसे पढ़कर बच्चे खुलें, खिलें।

बाल-साहित्य के विभिन्न कारकों के समन्वय की दृष्टि से बाल-साहित्य की भाषा एवं शैली मनोरंजक होनी चाहिए। फिर शिल्प ऐसा हो जिससे बच्चों की पठनीयता की अभिरुचि बढ़े और उत्सुकता जागे। 'आगे क्या होगा?' यह जानने के लिए बच्चे पढ़ें और आगे पढ़ें। वाक्य छोटे और सरल हों। भाषा के शब्दों में तत्सम और विदेशज कम हों, जटिलता बिल्कुल न हो, फिर मूल्य-बोध या शिक्षा-बोध अवश्य हो। बच्चों को लगे कि मुझ पर आदर्श या उपदेश थोपा नहीं जा रहा है- स्वत: उन आदर्शों तथा उपदेशों के प्रति बच्चे आकर्षित हों और अपने जीवन में उसे आत्मसात् करें। साहित्य में उबाऊपन नहीं हो- बच्चे हंसते-खेलते उसे पढ़ें तथा कल्पना शक्ति को जगाते हुए साहित्य के मूल्य-बोध को सहजता के साथ स्वीकार करें। साहित्य कुछ अपना अमिट रंग बच्चों पर छोड़ जाए जो जीवन की अगली सीढ़ी पर भी प्रेरक हो। उसे पढ़कर बच्चे संकल्पशील और चरित्रवान बनें और उनका भविष्य भी उज्ज्वल बने। बच्चे अतीत की सांस्कृतिक परंपराओं के भी जानकार बनें तथा वर्तमान के वैज्ञानिक मूल्यों तथा भविष्य के बढ़ते वैज्ञानिक कदमों की सोच एवं कल्पना शक्ति भी उनमें जाग्रत हो।

बाल-साहित्य का प्राचीन रूप - भारत में बाल-साहित्य का अतीत बड़ा समृद्ध रहा है। हमारे यहां 'पंचतंत्र' तथा 'जातक की कहानियां' बाल-साहित्य का ख़ज़ाना हैं। 'पंचतंत्र' तथा 'हितोपदेश' की कहानी में पशु-पक्षियों का मानवीकरण किया गया है तथा उसकी स्वभावगत विशेषता इस रूप में उतारी गई है जिसे बच्चों का भूल पाना असंभव है। 'पंचतंत्र' के लेखक पं. विष्णु शर्मा ने अमर-शक्ति नामक राजा के मूर्ख राजकुमारों को नीति-शिक्षा प्रदान करने के उद्देश्य से उस पुस्तक की रचना की थी। पं. विष्णु शर्मा ने 570 ई. में 'पंचतंत्र' की रचना संस्कृत में की थी। बाद में उसका हिंदी अनुवाद हुआ। उसके बाद विश्व की कई प्रमुख भाषाओं में अनुदित होकर यह पुस्तक विश्व-साहित्य की कोटि में आ गई।

'रामायण', 'महाभारत' आदि में भी छोटी-छोटी कई लोक कथाएं तथा उपदेशात्मक कथाएं हैं, जिसे बाल-साहित्य की श्रेणी में रखा जा सकता है। 'सिंहासन-बत्तीसी' और 'बेताल पच्चीसी' को भी मनोरंजक बाल साहित्य माना गया है। हिंदी में बाल साहित्य का विकास 19वीं सदी में ही होने लगा। चंद्रधर शर्मा गुलेरी की कहानी 'उसने कहा था' प्रथम कहानी मानी गई है। यह कहानी 1915 में ही लिखी गई थी। यह बाल कहानी तो नहीं थी परंतु उसमें बाल सुलभ चंचलता, जिज्ञासा तथा बाल मन के संस्कारों का बड़ा अच्छा चित्रण है। लहना सिंह की स्मृति में बचपन की एक छोटी-सी घटना आती है और वह इतना बड़ा बलिदान करने के लिए तैयार हो जाता है। बचपन की स्मृति मानव-प्रेम और बंधुत्व की मिसाल बन जाती है। लहना सिंह ने बचपन में एक आठ वर्षीय लड़की से पूछा था- "तेरी कुड़माई हो गई?"

उत्तर में 'धत्' सुनकर वह सामान्य नहीं रहा। उसी स्मृति से प्रभावित होकर बाद में वह युद्धभूमि में उसके पति तथा पुत्र की रक्षा हेतु जान की बाज़ी लगा देता है।

प्रेमचंद की कहानी 'ईदगाह' में हामिद की बाल सुलभ चेष्टाओं को चित्रित किया गया है। हामिद मेला जाता है और वहां से एक चिमटा ख़रीदता है। उसके हाथ में चिमटा देखकर अमीना छाती पीटते हुए कहती है- "यह कैसा बेसमझ लड़का है कि दोपहर हुई- न कुछ खाया न पिया, लाया क्या- चिमटा। मेले में तुझे और कोई चीज न मिली जो यह लोहे का चिमटा उठा लाया।"

हामिद अपराधी भाव से उत्तर देता है।, "तुम्हारी उंगलियां तवे से जल जाती थीं इसलिए मैंने ले लिया।" हामिद के मित्र जब अपने लाए खिलौने की तारीफ़ करते हैं तब हामिद भी अपने चिमटे की तारीफ़ असरदार ढंग से करता है कि उसके मित्र भी चिमटा देखने और हाथ में लेकर उसकी ख़ासियतों को जानने के लिए लालायित हो जाते हैं। हामिद के बाल-चरित्र में उन तमाम बच्चों का चरित्र झलकता है जो ग़रीबी, भूख और ज़िम्मेवारी को निकट से देखते है, भोगते हैं और अपने को परिवार का एक मज़बूत अंग समझकर उम्र से अधिक की बातें सोचते हैं।

प्रेमचंद का एक बाल-उपन्यास है 'कुत्ते की कहानी'। इस उपन्यास में कुत्ते का नाम कल्लू है। कल्लू का स्वभाव सभी कुत्तों से अलग है। जब उसका भाई उससे रोटी छीन लेता है वह दु:खी होकर सोचता है- "हम कुत्तों में यही तो बुराई है, एक कुत्ता दूसरे का सुख देख नहीं सकता।" यह जीवन का कितना बड़ा व्यंग्य है। प्रेमचंद ने एक बाल उपन्यास 'दुर्गादास' भी लिखा था। प्रेमचंद उपन्यास सम्राट के रूप में प्रसिद्ध हो गए तब उन्हें बालोपयोगी रचना लिखने की ज़रूरत महसूस हुई। वे कहते भी थे कि बुढ़ापा भी बचपन का पुनरागमन होता

संपर्क : *ग्राम+पोस्ट, बेलाही-नीलकंठ, वाया-अथरी, जिला- सीतामढ़ी-843311 (बिहार) मो. 9934679796*

है। अगर प्रेमचंद कुछ दिन और जीवित रहते तो वे बाल-साहित्यकार के रूप में भी प्रसिद्ध होते।

प्रेमचंद का जन्म 1880 ई. में हुआ था। उनके जन्म के एक दशक बाद राजा राधिका रमण सिंह का जन्म 1890 में हुआ था। उन्होंने मात्र 23 वर्ष की उम्र में एक कहानी लिखी थी 'कानों में कंगना'। बहुत से विद्वान उस कहानी को भी हिंदी की प्रथम कहानी मानते हैं। उस कहानी में भी बाल सुलभ चंचलता दिखाई पड़ती है। बच्चा अपनी बाल-सुलभ नादानी में कंगना को हाथ में नहीं, कान में पहन लेता है।

भारतेंदु हरिश्चंद्र ने बच्चों के लिए 'सत्य हरिश्चंद्र' तथा 'अंधेरनगरी चौपट राजा' लिखा।

प्रेमचंद की परंपरा को बढ़ाते हुए अमृतलाल नागर ने भी पचास वर्षों तक बच्चों के लिए साहित्य लिखा। उन्होंने बच्चों के लिए कहानी, कविता, उपन्यास, जीवन-चरित, नाटक ही नहीं बल्कि अद्वितीय बाल महाभारत भी लिखा। उनके परिवार तथा पड़ोस के बच्चे कहानी सुनाने के लिए उन्हें घेरे रहते थे। उन्होंने लिखा भी है कि मैंने बच्चों को जितना मौखिक सुनाया उसका दशमांश भी लिपिबद्ध नहीं कर सकता। उन्होंने किशोरों के लिए पांच बाल कहानियां लिखीं जिसके प्रकाशित संग्रह का नाम 'नटखट चाची' था। 'निंदिया आ जा' शीर्षक से पचास पंक्तियों की कथात्मक तथा लयात्मक लोरी भी नागरजी ने लिखी जिसमें चरखा कातती बुढ़िया नानी, परियां, चंद्रलोक के साथ अमरीकी, चीनी, जापान, यूनान से अफ्रीका तक के अश्वेत बच्चों की मेलजोलभरी दुनिया का समावेश है। इस सबके बावजूद नागरजी को सिद्धहस्त बाल-साहित्यकार नहीं माना गया।

मैथिलीशरण गुप्त ने भी नानी की कहानियों की गंभीर भावनाओं तथा आकर्षक शैली को मूल्यांकित करते हुए कहा है- 'मां कह एक कहानी / बेटा क्या समझ लिया है / तुमने मुझको अपनी नानी / कहती है मुझसे यह चेटी / तू मेरी नानी की बेटी।'

दिनकर ने 'चांद का कुर्ता' शीर्षक अपनी कविता में बच्चों को मास की प्रथम तिथि से पूर्णिमा तक चांद के घटते-बढ़ते स्वरूप के वैज्ञानिक सत्य को मनोरंजक शैली में बच्चों को सुनाया है-

'हठ कर बैठा चांद एक दिन, माता से यह बोला / सिलवा दो मां मुझे ऊन का मोटा एक झिंगोला'। अब मां कहती है–

जाड़े की तो बात ठीक है, पर मैं तो डरती हूं / एक नाप में कभी नहीं तुमको देखा करती हूं / कभी एक अंगुल भर चौड़ा, कभी एक फुट मोटा / बड़ा किसी दिन हो जाता है, और किसी दिन छोटा / घटता बढ़ता रोज किसी दिन ऐसा भी करता है / नहीं किसी की भी आंखों को दिखलाई पड़ता है / अब तू ही ये बता, नाप तेरा किस रोज लिवाएं / सी दें एक झिंगोला जो हर रोज़ बदन में आए'। विश्वकवि रवींद्रनाथ टैगोर ने भी रामकथा पर आधारित कविता 'वनवास लिखी जिसे श्रेष्ठ बाल साहित्य माना गया। उनके बाल-काव्य में किलकारियां और खुशियां भरी पड़ी थीं।

कलम के जादूगर रामवृक्ष बेनीपुरी का भी बाल-साहित्य सृजन में महत्वपूर्ण स्थान रहा है। बेनीपुरीजी बाल साहित्य के इतने श्रेष्ठ लेखक थे कि उन्होंने संपूर्ण बाल साहित्य-1 एवं 2 भी प्रकाशित किया। उन्होंने लोक शैली के रंग में रंगा हुआ 'सियार-पांडे' बाल उपन्यास लिखा और वीर रस से ओतप्रोत गुरु गोविंद सिंह की जीवनी भी लिखी। हीरामन तोते की कहानी तो पुरानी है परंतु बेनीपुरीजी ने बड़े रोचक, मनोरंजक तथा नाटकीय अंदाज में उसकी कहानी प्रस्तुत की। बेनीपुरीजी की कहानी 'लाल बुझक्कड़' तथा 'अमृत की वर्षा' भी बहुचर्चित है। उनकी पुस्तक 'अमर कथाएं' में देश-दुनिया के महान नाटकों की प्रेरक एवं उपदेशात्मक कहानियां हैं। उनकी रचना 'दिनों की कहानी' में सप्ताह के सातों दिन का खूबसूरत तथा रोचक वर्णन है।

कविवर बच्चन ने अपने पोते-पोतियों के लिए ही सही, तीन पुस्तकें प्रकाशित की : 'जन्मदिन की भेंट', 'नीली चिड़िया', 'बंदरबांट।' इन पुस्तकों में सभी बालकों के लिए प्रेरणास्पद बातें हैं तथा आपसी एकता का संदेश है। जैसे आपस में झगड़ा कर बैठी / बुद्धि अपनी खोटी / अब पछताने से क्या होना? बंदर हड़पा रोटी।

फिर समय-समय पर रंग बदलने वाले व्यक्ति से बचने का संदेश देखें–

समय-समय जो रंग बदलते / गिदगिदान कहलाते हैं
उनके पीछे जो चलते हैं / अक्सर धोखा खाते हैं।

बाल-पत्रिकाएं – तब से अब तक : बालकों के लिए केवल पुस्तकें ही नहीं पत्रिकाएं भी निकलने लगीं। 1892 में ही लखनऊ से 'बाल-हितकारी' तथा 'विद्या-प्रकाश' नामक पत्रिकाएं प्रकाशित होने लगीं। भारतेंदु हरिश्चंद्र के प्रयत्न से 'बाल-दर्पण' पत्रिका भी 19वीं सदी में निकली। 1906 में अलीगढ़ से 'छात्र-हितैषी' और 'बाल-प्रभाकर' पत्रिका बनारस से निकली। सन् 1917 में ही 'बाल-सखा' छपने लगी जिसके प्रथम संपादक पं. बद्रीनाथ भट्ट थे। उसके प्रथम अंक में ही घोषणा हुई थी–

"बाल-सखा निकाले जाने का उद्देश्य है- बालक-बालिकाओं में रुचि लाना, उनमें उच्च भावना भरना और से दुर्गुणों को निकालकर बाहर करना, उनका जीवन सुखमय बनाना और उनमें हर तरह का सुधार करना।"

तमिलनाडु से बाल शौरि रेड्डी ने 'चंदा मामा' का प्रकाशन कर पूरे भारत में धूम मचा दी। एक समय था जो 'बालक' तथा 'चुन्न-मुन्नू' पत्रिकाएं भारतीय बाल समूह में धूम मचाती थीं। अर्थाभाव या किसी न किसी कारणों से बहुत-सी बाल-पत्रिकाएं काल-कवलित हो गईं।

आज भी प्रकाशन विभाग की पत्रिका 'बाल भारती' के अतिरिक्त 'चंपक', 'नंदन', 'बच्चों का देश' 'हंसती दुनिया', 'बाल प्रहरी', 'बाल वाटिका', 'देवपुत्र', 'चकमक', 'अभिनव बालमन', मुनी लाल उपाध्याय की 'बाल सेतु', 'एकलव्य', 'अक्कड़-बक्कड़', 'लोटपोट' आदि दर्जनों पत्रिकाएं वर्तमान में निकलकर बाल साहित्य को समृद्ध कर रही हैं। आज़ादी से पूर्व की पत्रिकाएं नीतिपरक, बाल मनोविज्ञान युक्त तथा मनोरंजक हुआ करती थीं परंतु काल, परिस्थिति के अनुसार नई बाल पत्रिकाएं आज़ादी के बाद विषय-परिवर्तन को मजबूर होने लगीं। यह अब राष्ट्रीय-सामाजिक एकता, अंधविश्वास की समाप्ति, जाति और धर्म के भेदभाव की समाप्ति पर केंद्रित रहने लगी है।

स्वतंत्र भारत में बाल-साहित्य की अर्वाचीन स्थिति स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद बाल-साहित्य में उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ है। वर्तमान युग में बाल-साहित्य अपनी स्वतंत्र पहचान बना रहा है। आज के बाल साहित्य में युग की मांग के अनुसार परिस्थितिजन्य समस्या के अनुसार परिवर्तन हुआ है।

रमेश तैलंग ने कथ्य और शिल्प की दृष्टि से बाल साहित्य में नवीन प्रयोग किया है। आज दुर्भाग्यवश देश जाति, धर्म, वर्ग आदि शिलाखंडों में विभक्त होकर आपस में टकरा रहा है। ऐसी स्थिति में लेखक का भी धर्म होता है जो आपसी नफ़रत के मिटाने का संदेश दे। इस संकेत में रमेश तैलंग की कविता विशेष प्रभावोत्पादक है–

न तो बंदूक की, न ही बारूद की / कल की दुनिया हमको चाहिए नए रंग / रूप की जिसमें न पाठ पढ़ाया जाए नफ़रत का / जिसनें न राज चलाया जाए दहशत का। सच्चाई की जीत और हार झूठ की।"

डॉ. राष्ट्रबंधु ने कथा, कविता, लोरी आदि विविध विधाओं के बाल-साहित्य को शिखर तक पहुंचाने का आजीवन प्रयास किया।

चंद्रमा का अपना प्रकाश नहीं है- सूर्य की रोशनी ही चंद्रमा लेता है- इस वैज्ञानिक तथा भौगोलिक सत्य को बाल स्वरूप राही ने मनोरंजक ढंग से कविता में संदेश दिया है–

चंदा मामा! कहो तुम्हारी ज्ञान पुरानी कहां गई / कह रही थी बैठी चरखा बुढ़िया नानी कहां गई / सूरज से रोशनी चुराकर चाहे जितनी भी लाओ / हमें तुम्हारी चाल पता है अब मत हमको बहकाओ।

1961 में यूरी गैगरिन और 1969 से नील आर्मस्ट्रांग ने जब अंतरिक्ष की यात्रा की तो बाल साहित्यकारों ने भी 'चलो चंदा के देश', 'मंगल लोक के जीवन की झांकी' (ओम प्रकाश वर्मा), 'मंगल

की सैर' (सुशील कपूर), 'यंत्र सेवक' (निरंजन घाटे), आदि रचनाएं प्रस्तुत कर सुरुचिपूर्ण ढंग से बालकों को वैज्ञानिक सोच और शोध से अवगत कराया।

आज के बाल साहित्यकारों ने बच्चों को परीक्षाओं के मोह से निकाल कर वैज्ञानिक जगत की उत्सुकता वाली भूख उसमें जगा दी है। इस तरह विज्ञान और परीकथाओं से युक्त कहानियां डा. देवसरे ने लिखी है जो एक नवीन प्रयोग है। प्रकाश मनु की विज्ञान-कथाएं- 'लो चला पेड़ आकाश' तथा शकुंतला कालरा का कहानी-संग्रह 'चमत्कार का रहस्य' बच्चों के वैज्ञानिक भूख को मिटाती है।

रमाकांत ने 'दोस्ती का पैग़ाम' लिखकर बच्चों में दोस्ती का संदेश दिया है। विष्णु प्रभाकर के कहानी-संग्रह 'मेरा वतन' की सभी कहानियां भावात्मक-एकता का संदेश देती हैं।

कि आजकल गांव या शहर के हर त्यौहार में अथवा शादी-ब्याह में डी.जे. अथवा लाउड स्पीकर बजाकर कितना ध्वनि-प्रदूषण पैदा किया जाता है। कि परीक्षा के दिनों में बच्चों की पढ़ाई और नींद दोनों में ख़लल पड़ता है। इस चिंता को शकुंतला कालरा ने अपनी कहानी 'शोर का दैत्य' में उभारा है तथा उस शोर को दैत्य बनाकर उससे निजात पाने का उपाय भी बतलाया है। 'परद्रव्यषु लोष्ठवत् सुभाषित' को चरितार्थ करने वाली एक कहानी उनकी है 'विश्वास'। बच्चों की पेंसिल खो जाने या पा जाने की क्रिया स्वाभाविक है परंतु इस कहानी में एक संवेदना है, एक खुशी है और एक उपदेश भी है।

आज संचार क्रांति का युग है। इंटरनेट, मोबाइल, लैपटॉप, व्हाट्सएप आदि साधन बच्चों को प्रभावित कर रहे हैं। अब तो 'ई-पत्रिका' भी आने लगी है। संसार की पहली ई-पत्रिका 'भारत-दर्शन' मानी गई है जो न्यूज़ीलैंड से निकलती है। इसके संस्थापक रोहित कुमार हैं जो मूलत: हरियाणा के हैं। न्यूज़ीलैंड से निकलने वाली ई-पत्रिका में भी शेख़चिल्ली की कहानी, ख़्याली जलेबी आदि मनोरंजक कहानियां, बाल स्वरूप राही, निरंकार देव सेवक आदि कई बाल साहित्यकारों की रचनाएं प्रकाशित हुई हैं।

आज संचार क्रांति के युग में दो बातें महत्वपूर्ण हैं–

पहली, कहा गया है कि 'अति सर्वत्र वर्जयेत्'-इन साधनों से चिपके रहना बच्चों के शारीरिक एवं मानसिक विकास का बाधक बन गया है।

दूसरी, ये साधन उच्च आय वाले अभिभावक अपने बच्चों को उपलब्ध करा सकते हैं परंतु पचहत्तर प्रतिशत भारतीय जनता अपने बच्चों को कैसे उपलब्ध करा पाएंगी?

आज बच्चे अपने परिवार से, समाज से कटते जा रहे हैं- इंटरनेट में खोए रहते हैं- यह अच्छा संकेत नहीं है। इसकी चिंता विद्वानों एवं बाल-साहित्यकारों ने व्यक्त की है। बालकों का अबोध चेहरा आज संचार माध्यमों के कारण बोझिल होता जा रहा है। आज फिर ज़रूरत है कि बच्चे केवल मोबाइल से ही संपर्क स्थापित न करें, दादी-नानी से भी संवाद स्थापित करें। इस मध्यम मार्ग की स्थापना बाल साहित्यकारों को ही करनी होगी। आज बालकों, अभिभावकों और बाल साहित्यकारों के लिए यह एक बड़ी चुनौती है कि संचार-प्रौद्योगीक के युग में भी बच्चों को समयानुकूल किंतु मूल्यपरत साहित्य दिया जाए। इस चुनौती का समाधान एक से नहीं उपरोक्त तीनों के सामंजस्य से ही होगा। ऐसे समय में बाल-साहित्य की प्रासंगिकता और भी महत्वपूर्ण हो गई है। ❑

बाल काव्य की...

पृष्ठ 47 से आगे...

'सेवक' द्वारा की गई। बाद में लाला जगदलपुरी, सरस्वती कुमार दीपक, अजय प्रसून, सुरेंद्र विक्रम, रोहिताश्व अस्थाना आदि ने बच्चों के कार्य-कलापों को ग़ज़ल के फार्म में प्रस्तुत किया।

इधर नए प्रतीकों और बिंबों के माध्यम से बाल-कविताएं लिखी जा रही हैं जिनका नयापन बालमन को प्रभावित करता है। नए ढंग से लिखने वालों में हरीश निगम, दामोदर अग्रवाल, दिविक रमेश, जय प्रकाश भारती, सूर्यभानु गुप्त, सूर्यकुमार पांडेय, नागेश पांडेय 'संजय' आदि नाम लिए जा सकते हैं। शिल्प और शैलीगुप्त प्रयोगों की दृष्टि से सूर्यकुमार पांडेय की ये पंक्तियां उद्धरणीय हैं-'बंदर बोला मेड़ से/मामा अगर कहा मुझको/कूद पड़ूंगा पेड़ से।'

हमारे बड़ों और प्रसिद्ध रचनाकारों ने भी बच्चों के लिए बहुत कुछ लिखा है। महादेवी वर्मा की रचना 'मां के ठाकुरजी भोले हैं', अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध भी 'बूंद','रह भरोसे भाग के' और 'आ री नींद', मैथिलीशरण गुप्त की 'सरकस', रामधारी सिंह दिनकर की 'चांद का कुरता' तथा हरिवंशराय बच्चन की 'चिड़िया और चुरूगन' शीर्षक रचनाएं इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं।

आज की परिस्थिति में बच्चों की मनोभावनाओं को रेखांकित करने वाली बाल कविताएं अधिक पसंद की जाएंगी। इस दृष्टि से सुरेंद्र विक्रम की 'कंप्यूटर भैया', 'पार्क हाथ से निकल गया', 'जेब ख़र्च अब चार गुना हो' जैसी बाल कविताएं सचमुच सोद्देश्य और सराहनीय बन पड़ी हैं।

बाल काव्य-लेखन को सही दिशा में ले जाने के लिए जहां बाल साहित्यकार प्रयासरत हैं वहीं पत्र-पत्रिकाओं को भी रोचक, प्रेरक एवं उपयोगी बाल कविताएं अधिक संख्या में प्रकाशित करनी चाहिए। बाल साहित्यकारों को बच्चों में बच्चा बनकर इनके मानसिक धरातल से सोचकर अपनी भावनाओं को काव्यबद्ध करना होगा। बस्ते का बढ़ता हुआ बोझ, अंतरिक्ष में शहर बसाने और यातायात की कल्पना करना, वैज्ञानिक विषयों पर नए ढंग से सोचना, नई सदी के भारत की कल्पना, पर्यावरण-प्रदूषण, शांति अहिंसा एवं सह अस्तित्व का महत्व, राष्ट्रीय भावना आदि पर बच्चे कविताएं अधिक पसंद करेंगे। आज ग्रामीण बच्चों के परिवेश तथा बालिकाओं को केंद्र में रखकर बाल कविताएं और बालगीत लिखने की आवश्यकता है। बाल कविताएं ऐसी हों जिनसे बच्चे स्वयं प्रेरणा ग्रहण कर सकें।

बाल कविताओं में भाषा की सरलता तुकबंदी एवं छंदज्ञान का भी बड़ा महत्व है। बाल कविता में यदि किंचित मात्र भी छंद दोष होगा, तो लय टूट जाएगी और बच्चा उसे धारा प्रवाह से न तो गुनगुना सकेगा और न ही कंठस्थ कर सकेगा। इसी प्रकार बाल साहित्यकारों को स्वाध्याय अंतर को भी समझना होगा। सफल बाल काव्य-लेखन के लिए तत्संबंधी साहित्य का निरंतर अध्ययन और मनन भी आवश्यक है।

निष्कर्षत: हिंदी में बाल काव्य-लेखन की एक समृद्ध परंपरा विद्यमान है। हिंदी में बाल कविता के लिए समीक्षात्मक मानदंड भी शोध विद्वानों एवं अर्ध्यताओं ने स्थापित किए हैं। हमारे बाल साहित्यकार भी सजग होकर सृजन में समृद्ध हैं। प्रतिभा संपन्न बच्चों को भी बाल कविता लेखन के प्रति आकर्षित किया जाना चाहिए। आज इक्कीसवीं सदी में निश्चय ही बाल कविता लेखन की नई दिशाएं खुल रही हैं। बाल काव्य की यह अजस्रधारा नई दिशाओं में प्रवाहित होकर उपलब्धियों और संभावनाओं के नए-नए तीर्थ तलाश करेगी, ऐसा विश्वास है। ❑



महात्मा गांधी की पौत्री। पूर्व प्रशासनिक अधिकारी और राज्यसभा, सांसद। लेखन और सामाजिक कार्यों में विशेष नाम। लोकप्रिय और चर्चित पुस्तक 'महात्मा गांधी मेरे पितामह'।

नारी के गहने पुरुष का शिकंजा

सुमित्रा गांधी

बापू आप सबके भी उतने ही निकट थे जितने वे मेरे थे। भगवान की असीम अनुकंपा है कि मुझे उनकी पौत्री होने का सौभाग्य मिला और उनका सान्निध्य प्राप्त हो सका।

हम सब बच्चों का थोड़ा दुर्भाग्य रहा कि हमें हमारे दादा का उतना संपूर्ण समय नहीं मिल पाया जितना कि एक साधारण बच्चे को मिलता है। हमारे दादा अपने काम में बेहद व्यस्त थे, मगर उसमें से भी वे कुछ न कुछ समय निकालने की चेष्टा करते थे।

उन्हें बच्चे बड़े प्रिय थे और वे बच्चों के साथ एकबारगी बच्चा बनकर खिलखिलाकर हंसते थे। वे मानते थे कि बच्चे का विकास प्रकृति के समान होने देना चाहिए। उनको पसंद नहीं था कि नन्हें-नन्हें बच्चों को अक्षर ज्ञान और अंकगणित से लाद दिया जाए। उनका यह विश्वास था कि लिपि चित्रकला का एक प्रकार है। इसलिए उन्होंने यह नहीं चाहा कि हम लोगों को पहले अक्षर ज्ञान दिया जाए। इसका नतीजा यह था कि हम लोगों को पहले चित्रकला और संगीत सिखाया गया ताकि हमारी इंद्रियों का विकास हो। कहानियों के द्वारा इतिहास और भ्रमण द्वारा भूगोल सिखाया जाए और बाद में कातने के द्वारा हम शरीर श्रम, उत्पादन और साथ में अंकगणित सीखें। मुझे और मेरे भाई को करीब इन्हीं नियमों पर प्राथमिक शिक्षा मिली थी। बापूजी का आश्रम एक विशाल कुटुंब था। उसमें धुरंधर विद्वान आकर्षित होकर आते थे। इसलिए हमें प्राथमिक शिक्षण एक-एक विशेषज्ञ द्वारा मिला था। कोई हमें साहित्य सिखाता तो कोई गणित, कोई भूगोल और धर्म की शिक्षा देते थे। और दो-चार सज्जन फ्रेंच और अंग्रेजी सिखाते थे। इस प्रकार वह आश्रम वस्तुत: प्राचीन काल का एक जीता-जागता विद्या मंदिर था। हरएक जन सीखन-सिखाने में रत था और हाथ से काम करना गौरव की बात थी। मुझे और मेरे भाई को बचपन में बरतन मांजने से चिढ़ थी, मगर सफ़ाई और स्वच्छता का पाठ बापूजी ने स्वयं दिया था। हम दोनों को साफ़ थाली मांजने के बाद, घर की बकरी के दूध की खोए की बर्फी प्रसाद रूप में देते थे।

एक बार मैं आग़ा खां पैलेस में गांधीजी से मिलने गई। छोटी ही थी। दिनभर घूमने के पश्चात मेरा रूमाल काफ़ी मैला हो गया था। वह सोमवार का दिन था। बापूजी का मौन था। मेरा रूमाल देखकर उन्होंने अपना मुंह बिचका कर अपनी अप्रसन्नता प्रकट की और स्वयं उठकर उस रूमाल को धोकर सुखाया। दूसरे दिन वापस दिया और समझाया कि रूमाल गंदा कभी नहीं रखना चाहिए। और अगर गंदा होने की संभावना हो तो दो रूमाल रखने चाहिए। इस प्रकार स्वयं कार्य कर हम बच्चों को उन्होंने जीवन के कुछ मूल्यवान पाठ सिखाए हैं।

एक और घटना है जिससे प्रतीत होता है कि बच्चों के, बड़ों के प्रति आदर को वे कितना महत्व देते थे। बापूजी रोज़ सुबह घूमने जाते थे। एक दिन मुझे उन्होंने अपनी चप्पल लाने को कहा। मैंने बाल स्वभाववश उनकी चप्पलें अपने छोटे पैरों में पहन लीं और उन्हें घसीटती हुई ले आई। बापूजी ने तुरंत मुझे समझाया कि बड़ों की चप्पल को कभी पैर नहीं लगाते हैं। उनको भी हाथ में उठाकर लाना यह सभ्याचरण है और उसे मैं फिर कभी न भूली। इसलिए उन्होंने मुझसे उसी समय पुन: उन पदत्राणों को उनके नियत स्थान पर रखवाया और वहां से हाथ से उठाकर लाने को कहा और तब हम लोग घूमने गए।

बापूजी की दृष्टि में जितनी भी किफ़ायत हो सके उतनी वे करते थे। उनके यहां हजारों पत्र आते थे। वे उन लिफ़ाफ़ों को फेंकते नहीं थे। उन लिफ़ाफ़ो को कैंची से काटकर रखा जाता था और उन्हें, अगर अच्छी हालत में हो तो उल्टा करके पुन: उपयोग में लाया जाता था या फिर चिटपैड के तौर पर उनका उपयोग होता था। वैसे ही पैंसिल का हाल था। आजकल जब पैंसिल का टुकड़ा तीन इंच के क़रीब रह जाता है तो हम सब लोग उस पैंसिल को फेंक देते हैं और वे पैंसिल को आख़िरी इंच तक पुराने होल्डर के साथ लगाकर उपयोग करते थे,

मुझे भी मेरी सहपाठिनों के समान बचपन में चूड़ी पहनने का शौक हुआ था। मैंने होस्टल से मां को लिखा कि मुझे सोने की चूड़ियां चाहिए। बापूजी को पता चला तो उन्होंने मुझे चूड़ियों की परंपरा का इतिहास तो समझाया ही, मगर मेरी मुख्य अध्यापिका को भी लिखा कि तुम कैसी शिक्षा देती हो कि लड़की को इन चीज़ों का मोह होता है।

वे अपने बच्चों से बेहद सख़्ती से पेश आते थे। हम लोग सन् 1941-42 के दिनों में हर शनिवार को सेवाग्राम जाते थे और वे हमसे खाने और रहने का ख़र्च लेते थे। दूसरे लोग तो अतिथि के तौर पर आते थे और कई बार उन लोगों का ख़र्चा वसूल नहीं किया जाता था। मगर हम प्रत्येक बच्चे का टके-टके का हिसाब हो जाता था। मेरे पिताजी को यह पसंद भी था। मगर मेरी दादीजी को यह बात बड़ी अखरती थी। वे कई बार इस बात पर बापूजी से लड़ती थीं कि औरों के घर पर ये बेचारे उबली कद्दू की सब्ज़ी पाते हैं और उनकी मां मेरी बीमारी में सेवा करने आती है तो तुम पैसे वसूल करते हो। मगर जो नियम था सो था।

उनके इन नियमों की सख़्ती के पीछे भी अगाध प्रेम था। जब कभी हम बीमार पड़ते थे तो हम लोगों को अपने पास रखते थे और अपनी देखरेख में हमारी सेवा-सुश्रूषा करवाते थे। आज वे इस नश्वर देह के साथ हमारे पास नहीं रहे, मगर हर एक त्योहार और जन्म-दिवस या किसी भी महत्व के काम के लिए हम उनकी अनुपस्थिति को महसूस करते हैं और सोचते हैं, शायद अभी उनकी हंसी हमें सुनाई देगी, अभी वे हमें आशीर्वाद के तौर पर पीठ पर और मारेंगे। ❑

कला और आस्वादक

पं. विजयशंकर मिश्र



बनारस घराने से जुड़े विजयशंकर मिश्र की अब तक सात पुस्तकें और करीब 7000 आलेख प्रकाशित। भारत सरकार के जूनियर और सीनियर फेलोशिप सहित लगभग दो सौ प्रतिष्ठित मान-सम्मान और उपाधियां प्राप्त। विगत 45 वर्षों से संगीत के अध्यापन-कार्य से संबद्ध।

कला और आस्वादक का संबंध प्राचीन काल से ही एक ओर अत्यंत आत्मीय रहा है तो दूसरी ओर जटिल भी। संगीत जैसी कला में तो यह बिल्कुल भी नहीं कहा जा सकता है कि मैं अपनी कला की प्रस्तुति सिर्फ़ स्वांत:सुखाय ही करता हूं क्योंकि वह कला ही क्या जिसकी सराहना करने वाला कोई न हो! पिछले दिनों संपन्न विभिन्न कार्यक्रमों में संगीतकारों और संगीत श्रोताओं की निकटता को देखकर अच्छा लगा।

साहित्य कला परिषद्, भारत सरकार के संस्कृति मंत्रालय तथा डिपार्टमेंट ऑफ आर्ट कल्चर एंड लेंग्वेज के संयुक्त तत्वधान में आयोजित तीन-दिवसीय ठुमरी महोत्सव इस वर्ष सही अर्थों में यादगार रहा।

इस भव्य समारोह का भव्य शुभारंभ युवा पीढ़ी की अत्यंत प्रखर और सशक्त गायिका पद्मजा चक्रवर्ती के सुरीले गायन से हुआ। तबला संगति के लिए राम कुमार मिश्र, सारंगी के लिए मुराद अली, हारमोनियम के लिए परोमिता मुखर्जी तथा अपनी तीन शिष्याओं–आकांक्षा, शिल्पी और वेदिका के साथ मंच पर आते ही पद्मजा ने अपना रंग जमा दिया। मिश्र खमाज की पहली ठुमरी-मद के भरे तोरे 'नैन श्याम' के माध्यम से पद्मजा ने बहुत ही अच्छे बोल बनाव का परिचय दिया। आमतौर पर इस तरह की प्रशंसा नायक-नायिका की करते हैं लेकिन यहां तो गोपियां कृष्ण से कह रहीं थीं 'श्याम मद के भरे तोरे नैन!' पद्मजा के बोल बनाव में अच्छी परिकल्पनाशीलता दिखी। टप्पा गायकी इन दिनों लुप्त होने के कगार पर है, ऐसे में अपनी सधी हुई आवाज़ में टप्पा का प्रभावशाली गायन करके पद्मजा ने लोगों का दिल जीत लिया। मिश्र पीलू की कजरी जिसे पद्मजा के अनुसार उनकी गुरु विदुषी गिरिजा देवी ने शब्द और स्वरबद्ध किया था, 'घिर आई है कारी बादरिया राधो बिन लागे न मोरा जिया' गाकर जब अपने गायन को विराम दिया तो उपस्थित दर्शकों की करतल ध्वनि थमने का नाम नहीं ले रही थी। इस कार्यक्रम की एक बड़ी विशेषता यह रही कि मंच पर उपस्थित हर कलाकार ने कम-से-कम समय में अपनी प्रतिभा का अधिक से अधिक परिचय दिया।



पद्मजा चक्रवर्ती

जयतीर्थ मेवंडी इस दिन के दूसरे गायक थे। उन्होंने काफी की ठुमरी 'जब से श्याम सिधारे' से अपने तैयार गायन की शुरुआत की। इसके बाद मिश्र तिलंग में, 'नैनों ने जादू डाला' और फिर अपने परदादा गुरु उस्ताद अब्दुल करीम खान की प्रसिद्ध ठुमरी, 'पिया मिलन की आस' की भावपूर्ण प्रस्तुति की। जयतीर्थ का गला काफ़ी तैयार है।.. उनकी छोटी-छोटी हरकतों पर तालियां गूंज उठती थीं। कुछ एक जगहों पर टप्पा अंग की तानों का भी उन्होंने आकर्षक प्रयोग किया। जयतीर्थ ने अपने गुरु पंडित भीमसेन जोशी के प्रसिद्ध भजन, 'बाजे रे मुरलिया बाजे' के प्रभावशाली गायन के साथ अपने गायन को विराम दिया।

पहले दिन के कार्यक्रम का प्रभावशाली समापन पद्मश्री विदुषी शुभा मुद्गल के भावपूर्ण गायन से हुआ। दादरा 'निर्मोही सइयां कैसा जादू डाला', 'जल भरिए बांकी पानीहरी', 'संवरिया तोरी बांकी नैना' और फिर भैरवी में 'न जाओ बालम परदेसवा मान ले कहनवा' जैसी टकसाली रचनाओं के गायन द्वारा एक घंटे तक शुभा लोगों को अपने सुरों के झूले में झुलाती रहीं। अनीस प्रधान की तबला संगति सोने में सुगंध की तरह थी। गायक-वादक का असली ताल-मेल भी इस जोड़ी को देखकर समझा जा सकता है। सुधीर नाइक अच्छे हारमोनियम वादक हैं। इसे आज एक बार फिर उन्होंने साबित किया। मुराद अली की सारंगी ने भी अपनी सार्थक उपस्थिति का अच्छा परिचय दिया।

● अभी कुछ ही महीने पूर्व इसी स्तंभ में युवा कथक नर्तक प्रवीन गंगानी के असामयिक और आकस्मिक निधन की सचित्र सूचना प्रकाशित हुई थी। इस महीने इंडिया हैबीटेट सेंटर में प्रवीन को उनके चाहने वालों ने अत्यंत भावपूर्ण तरीके से याद किया। प्रवीन के गुरु पद्म विभूषण पंडित बिरजू महाराज ने जब प्रवीन के चित्र पर फूल चढ़ाते हुए उन्हें प्रणाम किया तो आंखों से आंसू छलक उठे। इस आयोजन की सूत्रधार युवा नृत्यांगना जयश्री आचार्य थीं जो प्रवीन की गुरु बहन भी हैं। 'यादों के फूल' नामक इस कार्यक्रम में प्रवीन से जुड़े कई लोगों ने अपनी संक्षिप्त प्रस्तुतियां दीं। शुभारंभ नंदिनी शर्मा, कंचन कांडपाल और वरुण बनर्जी की एक सामूहिक प्रस्तुति से हुआ जिसमें शिव पर केंद्रित एक ध्रुवपद को आधार बनाकर कई बोल आदि प्रस्तुत किए गए। इस कार्यक्रम की आयोजिका जयश्री आचार्य ने त्रिताल में संक्षिप्त प्रस्तुति देते हुए स्वामी हरिदास की एक रचना 'खेलूं पिया संग होली' पर सुंदर भावाभिनय किया। प्रवीन गंगानी

***संपर्क** : 'शंकर', 705 डी/21 सी, वार्ड सं. 3, महरौली, नई दिल्ली-110030*
मो. 9810517945

के सुपुत्र मुकेश गंगानी को भी इस कार्यक्रम में अपनी प्रस्तुति देने का अवसर मिला। कृष्ण वंदना और कृष्ण भजन पर अभिनय के उपरांत कथक के तकनीकी पक्ष का भी सुंदर परिचय दिया मुकेश ने। जयपुर घराने के युवा नर्तक देवानंद परिहार ने अपनी प्रस्तुति त्रिताल में दी। सूरज निर्वाण की तबला संगत भी टक्कर की थी। कबीर दास के भजन 'उड़ जाएगा हंस अकेला' पर अभिनय भी आकर्षक था।



संगम कला ग्रुप द्वारा लाइफ़ टाइम अचीवमेंट अवार्ड से सम्मानित पंडित मोहिंदर सरीन

ममता महाराज ने बिन्दादीन महाराज की एक अमर रचना 'ऐसो राम हैं दुख हरण को' आधार बनाकर अपनी प्रभावशाली प्रस्तुति दी इसके अंतर्गत उन्होंने 'द्रौपदी चीरहरण' के पूरे प्रसंग को अत्यंत सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया। ममता ने नृत्य के तकनीकी पक्ष का भी संक्षिप्त लेकिन बहुत ही अच्छा परिचय दिया। उनके साथ तबला पर प्रांशु चतुरलाल और गायन पर जयवर्धन दधीच ने बहुत ही अच्छी संगत की। इस कार्यक्रम का सुंदर समापन दीपक महाराज के सुंदर नृत्य से हुआ। प्रांशु चतुरलाल का तबला भी पूरे रंग में था।

● त्याग अर्थात् 'द योगा एंड आर्ट' ग्रुप ने अमलताश सभागार में अपना 12वां वार्षिक उत्सव मनाया जिसमें संगीत के कई कार्यक्रम संपन्न हुए। समीना दे ने कार्यक्रम का शुभारंभ एक गणेश वंदना से करते हुए विलंबित और द्रुत ख्याल के साथ एक कजरी भी प्रस्तुत किया। तबला संगत मदनलाल सिसोदिया और सारंगी संगत घनश्याम सिसोदिया ने की। समीना युवा पीढ़ी की उभरती हुई गायिका हैं और उनका आज का गायन आश्वस्त करने वाला था। सुप्रसिद्ध बांसुरी वादक कैलाश शर्मा ने राग मधुवंती की सुमधुर अवतारणा की। बाद में पहाड़ी में एक सुंदर धुन भी बजाया। तबला पर शंभुनाथ भट्टाचार्य ने सहयोगपूर्ण संगत की। युवा तबला वादक हरि मोहन शर्मा के स्वतंत्र तबला वादन के साथ पहले दिन का कार्यक्रम संपन्न हुआ। हरि मोहन ने रूपक ताल में कई सुंदर रचनाएं सुंदरता के साथ प्रस्तुत की। सारंगी पर उस्ताद रऊफ़ अहमद ने उस्तादी अंदाज़ में ही इनकी संगत की। दूसरे दिन की संगीत संध्या राकेश पाठक के राग श्याम कल्याण में शास्त्रीय गायन के साथ आरंभ हुई। राकेश ने विलंबित और द्रुत ख्याल के बाद एक मीरा भजन भी भावपूर्ण अंदाज़ में सुनाया।



व्यास सम्मान से सम्मानित पंडित सुरेश तांतेड़

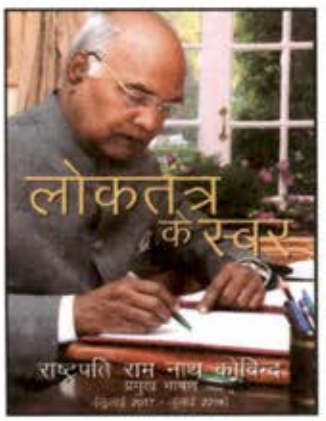
विभूति मल्लिक ने तबला और सुमित मिश्रा ने हारमोनियम संगत की। पंडित गोविंद चक्रवर्ती का ताल पंचम सवारी में प्रस्तुत स्वतंत्र तबला वादन विद्वतापूर्ण रहा। उन्होंने बनारस घराने की अनेक दुर्लभ रचनाओं का वादन ताल की गति को ध्यान में रखते हुए किया। हारमोनियम संगत आरिफ़ खान ने किया। सुनीलकांत सक्सेना ने अपना सुरीला सितार वादन राग झिझोंटी और दुर्गा में प्रस्तुत किया। गतें क्रमशः रुद्र और त्रिताल में निबद्ध थीं।

● पिछले दिनों असम एसोसिएशन और सत्रीय डांस अकादमी द्वारा दिल्ली में आयोजित एक कार्यक्रम में जाने का सुअवसर प्राप्त हुआ। अवसर था श्रीमंत शंकरदेव तिथि के उपलक्ष्य में आयोजित श्रीमंत शंकरदेव लिखित 'पारिजात हरण' नृत्य नाटिका के मंचन का जो श्रीमंत शंकर देव भवन के सभागार में आयोजित हुआ। यद्यपि गीत और संवाद सब कुछ असमिया भाषा में थे और नृत्य शैली सत्रीय थी तथापि भाषा की दीवार कहीं भी आड़े नहीं आई क्योंकि स्वर और भाव सब कुछ स्पष्ट करते जा रहे थे। कृष्ण की भूमिका में उत्पल सैकिया और इंद्र की भूमिका में हेमंत कुमार कलिता ने प्रभावशाली अभिनय किया। नारद को सुकन्या कश्यप, सत्यभामा को झिलमिल पाठक, शची को पूजा सील तथा रुक्मिणी को अमृता गोस्वामी ने मंच पर जीवंत कर दिया था। अन्य महत्वपूर्ण भूमिकाओं में गार्गी गोस्वामी, ब्रिस्टि चाबुकधारा, टीना कलिता, विकास दत्ता, अशुमन बोरा, सुकन्या बरुआ, देशना महंत, हरेश्वर डेका, राजीव, प्रभात बरुआ और उज्ज्वल बोरा ने भी खूब प्रभावित किया। निकू दत्ता और रीमा पाठक के गायन तथा गोविंद कलिता बायन और किरण बोरा के द्वारा विभिन्न ताल वाद्यों के वादन ने नृत्य में प्राण फूंकने को कार्य किया। मनोहारी रूप सज्जा और वस्त्र-विन्यास का सुंदर कार्य सुभाष, मीनाक्षी गोगोई तथा राजीव बोरा ने किया। बड़े कथानक को एक सूत्र में पिरो कर अत्यंत प्रभावशाली ढंग से जनता-जनार्दन के समक्ष प्रस्तुत करने का-सशक्त निर्देशन का-भवनंद बरबायान ने किया।

● इस महीने में कई सम्मान समारोह भी आयोजित हुए। भोपाल में पंडित सुरेश तांतेड़ को उनकी दीर्घकालीन संगीत सेवाओं के लिए सम्मानित किया गया। पंडित सुरेश तांतेड़ सुप्रसिद्ध तबला वादक तो हैं ही विगत 55 वर्षों से संगीत की सेवा में तल्लीन हैं। 'अभिनव कला मंच' नामक संस्था की स्थापना करके शास्त्रीय, उप शास्त्रीय, सुगम, लोक एवं फिल्म संगीत के 4000 से अधिक कलाकारों को 'उन्होंने मंच प्रदान किया है। 'अभिनव कला मंच' पहली सांस्कृतिक संस्था है जिस पर शोधकार्य भी संपन्न हुआ है। सुरेशजी एक दूसरी संस्था 'मधुवन' के माध्यम से भी विगत 50 वर्षों से संगीत की अनथक सेवा कर रहे हैं।

● दिल्ली में अखिल भारतीय स्वतंत्र पत्रकार एवं लेखक संघ ने शिक्षक दिवस के अवसर पर संगीत, साहित्य, संस्कृति, कला, चिकित्सा, अभियांत्रिकी एवं पत्रकारिता के विभिन्न क्षेत्रों के कुल मिलाकर 75 लोगों को डॉ. राधाकृष्णन सम्मान से सम्मानित किया। इस अवसर पर इन पंक्तियों के लेखक सहित गायक गुलाम अब्बास खान, तबला वादक ज़ाकिर अख़्तर हुसैन और विचित्र वीणा वादक अनुराग सिंह को भी सम्मानित किया गया। 'संगम कला ग्रुप' द्वारा दिल्ली के सिरीफोर्ट सभागार में आयोजित एक अत्यंत भव्य कार्यक्रम में पंडित मोहिंदर सरीन को लाइफ़ टाइम अचीवमेंट अवार्ड से सम्मानित किया गया। पं. सरीन सर्वोच्च श्रेणी के संगीतकार हैं। उनकी रचनाओं को ए. हरिहरण, वाणी जयराम, अनूप जलोटा, चंदन दास, घनश्याम वासवानी, मिताली चक्रवर्ती और अहमद हुसैन-मोहम्मद हुसैन तथा मीलू वर्मा जैसे पचासों गायकों ने गाया है। उनके साठ से अधिक एलबम संगीत के बाज़ार में लोकप्रिय हैं। ❑

• पुस्तक परिचय



लोकतंत्र के स्वर

प्रकाशन विभाग, सूचना भवन, सीजीओ कॉम्पलेक्स, लोधी रोड, नई दिल्ली-110003

पृष्ठ : 472

मूल्य : 450 रुपये (पेपर बैक)
750 रुपये (सजिल्द)

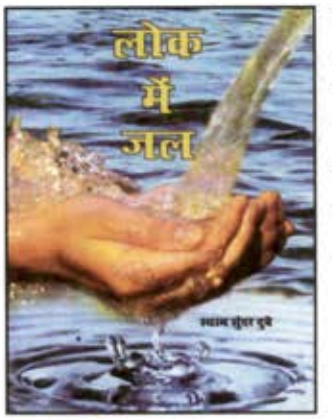
पुस्तक 'लोकतंत्र के स्वर' में माननीय राष्ट्रपति राम नाथ कोविन्द के 25 जुलाई 2017 को पदभार ग्रहण करने से लेकर एक वर्ष तक की अवधि के भाषण संकलित हैं। उनके प्रथम वर्ष के कार्यकाल में दिए गए कुल 243 भाषणों में से 109 प्रमुख हिंदी भाषणों के ज़रिए जनसाधारण तक उनके विचारों को पहुंचाने की कोशिश की जा रही है। विषय-वस्तु के अनुरूप सभी भाषणों को अलग-अलग श्रेणियों में रखा गया है। ये श्रेणियां हैं- राष्ट्र के नाम संदेश, संविधान का परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण, राष्ट्र-निर्माताओं का स्मरण, भारत की इंद्रधनुषी विविधता, भावी पीढ़ी का निर्माण, संवेदनशीलता और समावेशन, संस्कृति और अध्यात्म का ताना-बाना, उत्कृष्टता के उत्सव, स्वच्छ भारत की दिशा में बढ़ते कदम, देश की रक्षा एवं लोक-सेवा की प्रेरणा।

'राष्ट्र के नाम संदेश' श्रेणी में 'इक्कीसवीं सदी का भारत', 'विकसित भारत के लिए संकल्प' 'बदलता भारत' आदि है। इसी प्रकार 'संविधान का परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण' श्रेणी में केंद्र और राज्य के बीच सेतु' 'सजग मतदाता : भारतीय लोकतंत्र के आधार', 'सबके लिए सुलभ और सुगम न्याय' आदि शामिल है। 'राष्ट्र-निर्माताओं का स्मरण' श्रेणी में, 'स्वच्छ और सशक्त भारत के स्वप्नद्रष्टा', 'महामानव आंबेडकर', 'आदर्श सह-धर्मिणी' आदि हैं। इसी प्रकार 'भारत की इंद्रधनुषी विविधता में विषयों पर भाषण सम्मिलित हैं।

इन विभिन्न श्रेणियों के संबोधनों में माननीय राष्ट्रपति ने जनमानस के साथ अपने सरोकारों को विभिन्न शब्दों में जताया है। कभी वह किसी आदिवासी बहुल क्षेत्र को विकास की राह पर अग्रसर देख अपने हर्ष को दर्शाते हैं तो कभी सीमा पर आमजन की रक्षा करने हेतु 24 घंटे डटे रहने वाले सैनिकों की हौसला अफ़ज़ाई करते हुए दिखते हैं। साथ ही उन्होंने आधुनिक भारत के निर्माताओं- डॉक्टर भीमराव अंबेडकर एवं दीनदयाल उपाध्याय सरीखी हस्तियों के संदेश एवं जीवन आदर्शों को जनता तक पहुंचाने के लिए अपने भाषणों का सहारा लिया है।

राष्ट्र-निर्माण एवं राष्ट्र-निर्माताओं के प्रति राष्ट्रपति की व्यापक दृष्टि, गहरी निष्ठा और समाज के हर वर्ग के लिए उनकी संवेदनशीलता की झलक उनके भाषणों में देखी जा सकती है। हमारे राष्ट्र का हर नागरिक हमारे लोकतंत्र को शक्ति देता है- राष्ट्रपति के ये शब्द निश्चित ही जन-मानस में नई प्रेरणा का संचार करने में सफल होंगे।

प्रस्तुति : **प्रियंका कुमारी**



लोक में जल

प्रकाशन विभाग, सूचना भवन, सीजीओ कॉम्पलेक्स, लोधी रोड, नई दिल्ली-110003

लेखक : श्यामसुंदर दुबे

पृष्ठ : 146

मूल्य : 105 रुपये

हमारी पृथ्वी जल से परिपूर्ण है इसलिए इस पर सृष्टि रचना संभव हुआ और हमारा अस्तित्व सक्रिय है। जल है तो सृष्टि है। जलगोचर सृष्टि का महत्वपूर्ण कारक है जबकि आकाश, अग्नि और वायु तक सृष्टि अलक्षित है। जल के उद्गम के साथ ही जगत के उद्गम की कथा जुड़ी है।

'जल ही जीवन है' यह लोकोक्ति मानवता के लिए बिलकुल सटीक है। प्रकृति द्वारा प्रदत्त जल धरती और जीवन के लिए अमूल्य उपहार है। संसार में कुछ फिर से नया हो रहा है, उग रहा है, हरे-भरे जीवन से भरपूर हो तो यह जल की क्षमता का प्रदर्शन है। प्राणी को हर कार्य निष्पादित करने के लिए जल की आवश्यकता होती है। जल संपूर्ण वातावरण को जिस लय में बांधता है, वही सृष्टि - सर्जन का आदि नाद है।

प्रकृति द्वारा प्रदत्त जलराशि की दुर्दशा किसी से छिपी नहीं है। विकास की अंधी दौड़ में भविष्य के प्रति लापरवाही ही मुख्य जल स्रोतों को समाप्त कर रही है।

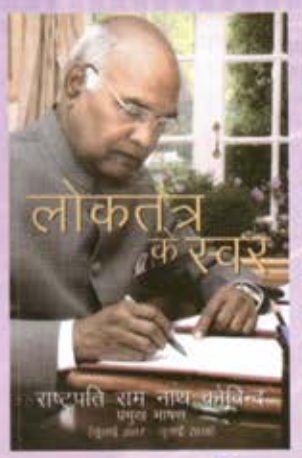
संसार में सृष्टि विकास चिंतन में जल की भूमिका एक कारक के रूप में ही नहीं बल्कि एक जीवन-सत्ता की तरह स्वीकारी गई है। आधुनिक विज्ञान भी इस तथ्य की पुष्टि करता है कि जल ही जीवन का आदि स्रोत है। वैज्ञानिक उन ग्रहों की खोज ब्रह्मांड में कर रहे हैं जिनमें जल विद्यमान है। यदि ऐसे ग्रह की प्राप्ति हो जाती है, तो उस ग्रह पर जीवन होने की भी संभावना बन जाएगी।

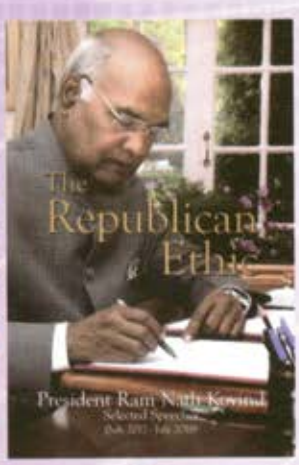
प्रस्तुत पुस्तक के चार भागों- जल आधार, जल व्यवहार, जल विचार और जल शब्द संसार के द्वारा लोक में नदी, लोक में तालाब, लोक में बावड़ी, लोक में कुआं (प्रथम भाग), लोक में भूगर्भीय जल की खोज, लोक-संस्कारों में जल की भूमिका, लोक-विश्वासों में जल के चिकित्सकीय प्रयोग आदि (भाग-दो), लोक में अवर्षा के कारण, लोक में वर्षा-विचार (भाग-तीन) और लोकगीतों में जल, लोकगीतों में नदियां, हिंदी कविता में वर्षा (भाग-चार) आदि के माध्यम से जल और पृथ्वी के संबंधों की विस्तृत चर्चा की गई है।

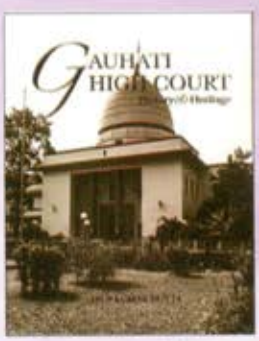
लेखक श्याम सुंदर दुबे ने इस पुस्तक में जल के उद्भव, विभिन्न बावड़ियों का महत्व एवं पतन पर बारीकी से जानकारी दी है। यह पुस्तक शोधरत छात्रों एवं पर्यावरण के प्रति जागरूक पाठकों के लिए बहुत उपयोगी है।

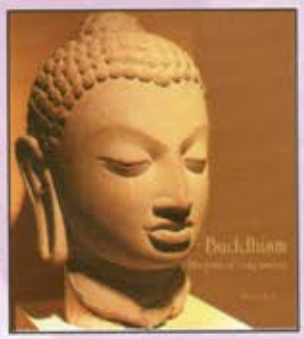
प्रस्तुति : **ऋतुश्री**

हमारे नए प्रकाशन

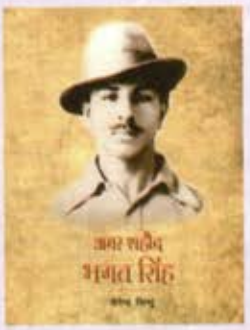






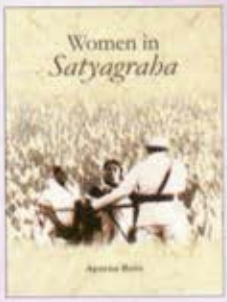


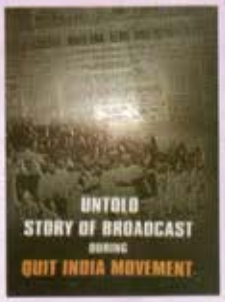




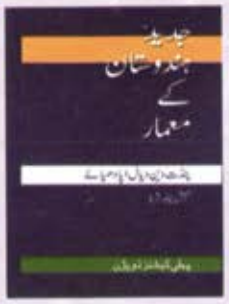














प्रकाशन विभाग

सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार
सूचना भवन, सी जी ओ कॉम्पलेक्स, लोधी रोड,
नई दिल्ली - 110003
वेबसाइट : www.publicationsdivision.nic.in

चुनिंदा पुस्तकें ईबुक के रूप में भी उपलब्ध, इसके लिए
play.google.com और amazon.in पर जाएं
पुस्तकें ऑनलाइन खरीदने के लिए bharatkosh.gov.in पर लॉग इन करें

ऑर्डर के लिए संपर्क करें-
फोन 011-24367260, 24365609
ई मेल businesswng@gmail.com

@ DPD_India

डाक तार पंजीयन सं. डी एल (एस) - 05/3222/2018-20 बिना पूर्व भुगतान के साथ आर.एम.एस. दिल्ली से पोस्ट करने के लिए लाइसेंस यू (डी एन)-49/2018-20
Postal Regn. No. DL (S) - 05/3222/2018-20 दिल्ली डाक आर एन आई 701/57
Licenced U (DN) - 49/2018-20 to post without pre-payment at RMS Delhi Delhi Postal RNI 701/57
• 10 अक्तूबर 2018 को प्रकाशित • 21-22 अक्तूबर 2018 को डाक द्वारा जारी • वार्षिक मूल्य : ₹ 230



प्रकाशक व मुद्रक : डॉ. साधना राउत, महानिदेशक द्वारा प्रकाशन विभाग के लिए एजूकेशनल स्टोर्स, गाजियाबाद (उ.प्र.) से मुद्रित एवं प्रकाशन विभाग, सूचना भवन, सीजीओ कॉम्पलेक्स, लोधी रोड, नई दिल्ली-110003 से प्रकाशित ।
संपादक : फरहत परवीन